बापू

लेखक

श्री घनश्यामदास बिड़ला

सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

प्रकाशक

मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

पांचवीं बार : दिसम्बर १९४८

मूल्य

सवा दो रुपया

मुद्रक

दिल्ली प्रेस, कनॉट सरकस,

नई दिल्ली

आदि वचन

यदि भगवद्गीताके बारे में लिखना आसान हो, तो गांधीजी के बारेमें भी लिखना आसान होसकता है, क्योंकि भगवद्गीतापर लिखा हुआ भाष्य न केवल गीता-भाष्य होगा, बल्कि भाष्यकारके जीवनका वह दर्पण भी होगा। जैसे गीतारहस्य लोकमान्यके जीवनका दर्पण है, वैसे ही अनासक्तियोग गांधीजीके जीवन का दर्पण है। ठीक उसी तरह गांधीजीके जीवनकी समीक्षा करने-में लेखक अपने जीवनका चित्र भी उसी समीक्षाके दर्पणमें खींच लेता है ।

एक बात और। जैसे गीता सबके लिए एक खुली पुस्तक है, उसी तरह गांधीजीका जीवन भी एक खुली पुस्तक कहा जा सकता है। गीताको बड़े-बड़े विद्वान् तो पढ़ते ही है, हजारों श्रद्धालु लोग भी, जो प्रायः निरक्षर होते हैं, उसे प्रेमसे पढ़ते है । गांधीजीके जीवनको---विशेषतः उनकी आत्मकथाको---भी यही बात है । जैसे गीता सबके कामकी चीज है, वैसे गांधीजी भी सबके कामके है । गीतासे बड़े विद्वान् अधिक लाभ उठाते है या निरक्षर किंतु श्रद्धालु भक्त अधिक उठाते हैं, यह विचारने योग्य प्रश्न है । यही बात गांधीजीके विषयमें भी है। उनके जीवनको---उनके सिद्धांतोंको---समझनेके लिए न तो विद्वत्ताकी आवश्यकता है, न लेखनशक्तिकी । उसके लिए तो हृदय चाहिए । मुझे पता नहीं, श्री घनश्यामदासजीका नाम विद्वानों या लेखकोंमें गिना जाता है या नहीं, किंतु धनिकोंमें तो गिना ही जाता है । परंतु उन्होंने धनकी मायासे अलिप्त रहने और अपने हृदयको स्फटिक-सा निर्मल या बुद्धि एवं वाणीको सत्यपूत रखने का यथासाध्य प्रयत्न किया है। और उस हृदय, बुद्धि और वाणीसे की गई यह समीक्षा,

बिड़लाजी आज अच्छे विद्वान् या लेखक न माने जाते हों तो भी, समीक्षाकी उत्तम पुस्तकोंमें स्थान पायेगी और हिंदी के उत्कृष्ट लेखकोंमें उनकी गणना करायेगी ।

यों तो श्री घनश्यामदासजीकी लेखन-शक्तिका परिचय जितना मुझे है उतना हिंदी-जगतको शायद न होगा । मैं तो कई सालसे उनके सम्पर्क में हूं, उनके हिंदी भाषामें लिखे हुए पत्र मुझे सीधी-सादी, नपी-तुली और सारगर्भित शैलीके अनुपम नमूने मालूम हुए हैं । और जबसे मैं उस शैली पर मुग्ध हुआ हूं, तबसे सोचता हूं कि बिड़लाजी कुछ लिखते क्यों नहीं ? मुझे बड़ा आनंद होता है कि इस पुस्तकमें उसी आकर्षक शैलीका परिचय मिलता है जिसका कि उनके पत्रोंमें मिलता था ।

गांधीजीके सम्पर्कमें आये बिड़लाजीको पच्चीस वर्ष हो गये हैं । इस पच्चीस सालके संबंधके बारेमें वह लिखते हैं—

"जबसे मुझे गांधीजीका प्रथम दर्शन हुआ, तबसे मेरा-उनका अविच्छिन्न संबंध जारी है । पहले कुछ साल मैं समालोचक होकर उनके पास जाता था,उनके छिद्र ढूंढ़नेकी कोशिश करता था, क्योंकि नौजवानोंके आराध्य लोकमान्यकी ख्यातिको इनकी ख्याति टक्कर लगाने लग गई थी, जो मुझे रुचिकर नहीं मालूम होता था । पर ज्यों-ज्यों छिद्र ढूंढ़नेके लिए मैं गहरा उतरा, त्यों-त्यों मुझे निराश होना पड़ा और कुछ अरसेमें समालोचककी वृत्ति आदरमें परिणत हो गई और फिर आदरने भक्तिका रूप धारण कर लिया । बात यह है कि गांधीजीका स्वभाव ही ऐसा है कि कोई विरला ही उनके संसर्गसे बिना प्रभावित हुए छूटता है ।" इतना मैं जानता हूं कि श्री घनश्यामदासजी बिड़ला तो नहीं छूटे । वह लिखते हैं—
"गांधीजीसे मेरा पच्चीस सालका संसर्ग रहा है । मैंने अत्यंत निकटसे, सूक्ष्मदर्शकयंत्रकी भांति, उनका अध्ययन किया है । समालोचक होकर छिद्रान्वेषण किया है । पर मैंने उन्हें कभी सोते नहीं पाया ।" यह वचन गांधीजीके बारे में तो सत्य है ही, पर बिड़लाजीके बारेमें भी

काफी अंशमें सत्य है। क्योंकि गांधीजी न सिर्फ खुद ही सोते हैं, बल्कि जो उनके प्रभावमें आते हैं उनको भी नहीं सोने देते।

यह पुस्तक इस जाग्रत अध्ययन, अनुभव और समालोचनका एक सुंदर फल है। उन्होंने एक-एक छोटी-मोटी बातको लेकर गांधीजीके जीवनको देखनेका प्रयत्न किया है। गांधीजीसे पहले-पहल मिलनेके बाद बिड़लाजीने उनको एक पत्र लिखा। जवाबमें एक पोस्टकार्ड आया, 'जिसमें पैसेकी किफायत तो थी ही, पर भाषाकी भी काफी किफायत थी।' बात तो मामूली-सी है, परन्तु उसमेंसे गांधीजीके जीवनकी एक कुंजी उन्हें मिल जाती है। "पता नहीं, कितने नौजवानों पर गांधीजी ने इस तरह छाप डाली होगी, कितनोंको उलझनमें डाला होगा, कितनोंके लिए वह कुतूहलकी सामग्री बने होंगे! पर १९१५ में जिस तरह वह लोगोंके लिए पहेली थे, वैसे ही आज भी हैं।" यह सही है, पर इस पुस्तकमें हम देखते हैं कि उनके जीवनकी कई पहेलियां घनश्यामदासजीने अच्छी तरह सुलझाई हैं।

गीता इतना सीधा-सादा और लोकप्रिय ग्रंथ होनेपर भी पहेलियोंसे भरा हुआ है। इसी तरह गांधीजीका जीवन भी पहेलियोंसे भरा पड़ा है। कुछ रोज पहले रामकृष्ण-मठके एक स्वामीजी यहां आये थे। बड़े सज्जन थे, गांधीजीके प्रति बड़ा आदर रखते थे और गांधीजीकी ग्रामोद्योग-प्रवृत्ति अच्छी तरह समझनेके लिए और कातने-बुननेकी क्रिया सीखकर अपने समाजमें उसका प्रचार करनेके लिए वह यहां आये थे। एक रोज मुझसे वह पूछने लगे, "गांधीजीके जीवनकी एकाग्रता देखकर मैं आश्चर्य-चकित होता हूं, और उनकी ईश्वर-श्रद्धा देखकर भी। क्या गांधीजी कभी भावावेश में आ जाते हैं? क्या दिनमें किसी समय वह ध्यानावस्थित होकर बैठते हैं?" मैंने कहा—"नहीं।" उनके लिए यह बड़ी पहेली हो गई कि ऐसे कोई बाह्य चिह्न न होते हुए भी गांधीजी बड़े भक्त हैं और योगी हैं। गांधीजीके जीवन में ऐसी कई पहेलियां हैं। उनमेंसे अनेक पहेलियोंको हल करनेका सफल प्रयत्न इस पुस्तकमें किया गया है।

एक उदाहरण लीजिए। अहिंसासे क्या सब वस्तुओंकी रक्षा हो सकती हैं? यह प्रश्न अक्सर उपस्थित किया जाता है। इस प्रश्नका कैसी सुंदर भाषामें बिड़लाजीने उत्तर दिया है :

"धन-सम्पत्ति-संग्रह, माल-जायदाद इत्यादि की रक्षा क्या अहिंसासे हो सकती है ? हो भी सकती है और नहीं भी। जो लोग निजी उपयोगके लिए संग्रह लेकर बैठे हैं, सम्भव नहीं कि वे अहिंसा-नीतिके पात्र हों। अहिंसा यदि कायरताका दूसरा नाम नहीं, तो फिर सच्ची अहिंसा वह है जो अपने स्वार्थके लिए संग्रह करना नहीं सिखाती। अहिंसकको लोभ कहां? ऐसी हालतमें अहिंसकको अपने लिए संग्रह करनेकी या रक्षा करनेकी आवश्यकता ही नहीं होती। योग-क्षेमके झगड़ेमें शायद ही अहिंसाका पुजारी पड़े।

"निर्योगक्षेम आत्मवान्"—गीताने यह धर्म अर्जुन जैसे गृहस्थ व्यक्ति का बताया है। यह तो संन्यासी का धर्म है—ऐसा गीता ने नहीं कहा। गीता संन्यास नहीं, कर्म सिखाती है, जो गृहस्थ का धर्म है। अहिंसावादीका भी शुद्ध धर्म उसे योग-क्षेम-के झगड़ेसे दूर रहना सिखाता है। पर संग्रह करना और उसकी रक्षा करना 'स्व' और 'पर' दोनोंके लाभके लिए हो सकता है। जो 'स्व'के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं, वे अहिंसा-धर्मकी पात्रता सम्पादन नहीं कर सकते। जो 'पर'के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं, वे गांधीजीके शब्दोंमें 'ट्रस्टी' हैं। वे अ-नासक्त होकर योग-क्षेम-का अनुसरण कर सकते हैं। वे संग्रह रखते हुए भी अहिंसावादी हैं, क्योंकि उन्हें संग्रहमें कोई राग नहीं। धर्मके लिए जो संग्रह है, वह धर्मके लिए अनायास छोड़ा भी जासकता है और उसकी रक्षाका प्रश्न हो तो वह तो धर्मसे ही की जा सकती है, पापसे नहीं। इसके विपरीत जो लोग संग्रहमें आसक्त हैं, वे न तो अहिंसात्मक ही हो सकते हैं, न फिर अहिंसासे धनकी रक्षाका प्रश्न ही उनके संबंधमें उपयुक्त है। पर यह सम्भव है कि ऐसे लोग हों, जो पूर्णतः अहिंसात्मक हों, जो सब तरहसे पात्र हों, और अपनी आत्मशक्ति द्वारा, यदि उन्हें ऐसा करना धर्म लगे तो,

किसीके संग्रहकी भी वे रक्षा कर सकें।

"पर यह कभी न भूलना चाहिए कि अहिंसक और हिंसक मार्गकी कोई तुलना है ही नहीं। दोनोंके लक्ष्य ही अलग-अलग हैं। जो काम हिंसासे सफलतापूर्वक हो सकता है—चाहे वह सफलता क्षणिक ही क्यों न हो—वह अहिंसासे हो ही नहीं सकता। मसलन हम अहिंसात्मक उपायोंसे साम्राज्य नहीं फैला सकते, किसीका देश नहीं लूट सकते। इटलीने अबीसीनियामें जो अपना साम्राज्य-स्थापन किया, वह तो हिंसात्मक उपायों द्वारा ही हो-सकता था।

"इसके माने यह हैं कि अहिंसासे हम धर्मकी रक्षा कर सकते हैं, पापकी नहीं, और संग्रह यदि पापका दूसरा नाम है तो संग्रहकी भी नहीं। अहिंसामें जिन्हें रुचि है, वे पापकी रक्षा करना ही क्यों चाहेंगे? अहिंसाका यह मर्यादित क्षेत्र यदि हम हृदयंगम करलें, तो इससे बहुत-सी शंकाओंका समाधान अपनेआप हो जायगा। बात यह है कि जिस चीजकी हम रक्षा करना चाहते हैं वह यदि धर्म है, तब तो अहिंसात्मक विधियोंसे विपक्षीका हम सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकते हैं। और यदि यह पाप है, तो हमें स्वयं उसे त्याग देना चाहिए; और ऐसी हालत में प्रतिकार का प्रश्न ही नहीं रहता।

"यह निर्णय फिर भी हमारे लिए बाकी रह जाता है कि 'धर्म क्या है, अधर्म क्या है?' पर धर्माधर्मके निर्णयमें सत्यके अनुयायीको कहां कठिनता हुई है?

जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ;
हौं बौरी ढूंढ़न गई, रही किनारे बैठ।

"असल बात तो यह है कि जब हम धर्मकी नहीं, पापकी ही रक्षा करना चाहते हैं, और चूंकि अहिंसासे पापकी रक्षा नहीं हो सकती, तब अहिंसाके गुण-प्रभावमें हमें शंका होती है और अनेक तर्क-वितर्क उपस्थित होते हैं।"

इसी तरह जितने प्रश्न बिड़लाजीने उठाये हैं उन सबकी चर्चा सूक्ष्म

अवलोकन और चिंतन से भरी हुई है। उनके धर्म-चिंतन और धर्मग्रंथोंके अध्ययनका तो मुझे तनिक भी खयाल नहीं था। इस पुस्तकसे उसका पर्याप्त परिचय मिलता है। गीता के कुछ श्लोक जो कहीं-कहीं उन्होंने उद्धृत किये हैं, उनका रहस्य खोलने में उन्होंने कितनी मौलिकता दिखाई है !

बिड़लाजीकी किफायती और चुभ जानेवाली शैलीके तो हमको स्थान-स्थानपर प्रमाण मिलते हैं : "असलमें तो शुद्ध मनुष्य स्वयं ही शस्त्र है और स्वयं ही उसका चालक है।" "गंदे कपड़ेकी गंदगीकी यदि हम रक्षा करना चाहते हैं तो पानी और साबुनका क्या काम ? वहां तो कीचड़की जरूरत है।" "आकाशवाणी अन्य चीजोंकी तरह पात्र ही सुन सकता है। सूर्यका प्रतिबिंब शीशेपर ही पड़ेगा, पत्थरपर नहीं।" "सरकारने हमें शांति दी, रक्षा दी, परतंत्रता दी, नुमाइंदे भी वही नियुक्त क्यों न करे?" "सूरजसे पूछो कि आप सर्दीमें दक्षिणायन और गर्मीमें उत्तरायण क्यों होजाते हैं, तो कोई यथार्थ उत्तर मिलेगा? सर्दी-गर्मी दक्षिणायन-उत्तरायणके कारण होती है, न कि दक्षिणायन-उत्तरायण सर्दी-गर्मीके कारण। गांधीजी की दलीलें भी वैसी ही हैं। वे निर्णय के कारण बनती हैं, न कि निर्णय उनके कारण बनता है।"

आखिरी तुलना कितनी मनोहर, कितनी मौलिक और कितनी अर्थपूर्ण है ! गांधीजीके जीवनके कई कार्यों पर इस दृष्टि से कितना प्रकाश पड़ता है।

गांधीजीकी आत्मकथा तो हम सब पढ़ चुके हैं। परन्तु उसके कुछ भागोंपर श्री घनश्यामदासजीने जैसा भाष्य किया है वैसा हममेंसे शायद ही कोई करते हों। गांधीजीको मारनेके लिए दक्षिण अफ्रीकामें गोरे लोगोंकी भीड़ टूट पड़ती है। मुश्किलसे गांधीजी उससे बचते हैं। बिड़लाजीको उस दृश्य का विचार करते ही दिल्लीके लक्ष्मीनारायण-मंदिरके उद्घाटनके समयकी भीड़ याद आ जाती है और दोनों दृश्योंका संदर समन्वय करके अपनी बातका समर्थन करते हैं।

गांधीजीके उपवास, उनकी ईश्वर-श्रद्धा, उनके सत्याग्रह आदि कई प्रश्नोंपर, उनके जीवनके अनेक प्रसंग लेकर उसकी गहरी छानबीन करके, उन्होंने बड़ा सुंदर प्रकाश डाला है ।

उनकी समझ, उनकी दृष्टि इतनी सच्ची है कि कहीं-कहीं उनका स्पष्टीकरण गांधीजीके स्पष्टीकरणकी याद दिलाता है । यह पुस्तक तो लिखी गई थी कोई तीन महीने पहले, लेकिन उस समय उन्होंने अहिंसक सेनापति और अहिंसक सेनाके बारेमें जो-कुछ लिखा था वह मानो वैसा ही है जैसा अभी कुछ दिन पहले गांधीजीने 'हरिजन' में लिखा था ।

"यह आशा नहीं की जाती कि समाजका हर मनुष्य पूर्ण अहिंसक होगा । पर जहां हिंसक फौजके बलपर शांति और साम्राज्यकी नींव डाली जाती है, वहां भी यह आशा नहीं की जाती कि हर मनुष्य युद्ध-कलामें निपुण होगा । करोड़ों की बस्तीवाले मुल्ककी रक्षा के लिए कुछ थोड़े लाख मनुष्य काफी समझे जाते हैं । सौमें एक मनुष्य यदि सिपाही हो तो पर्याप्त माना जाता है । फिर उन सिपाहियोंमेंसे भी जो ऊपरी गणनायक होते हैं, उन्हींकी निपुणता पर सारा व्यवहार चलता है ।

"आज इंग्लिस्तानमें कितने निपुण गणनायक होंगे, जो फौजके संचालनमें अत्यंत दक्ष माने जाते हैं ? शायद दस-बीस । पर बाकी जो लाखोंकी फौज है, उससे तो इतनी ही आशा की जाती है कि उसमें अपने अफसरोंकी आज्ञापर मरनेकी शक्ति हो । इसी उदाहरण के आधारपर हम एक अहिंसक फौजकी भी कल्पना कर सकते हैं । अहिंसात्मक फौज के जो गणनायक हों उनमें पूर्ण आत्मशुद्धि हो, जो अनुयायी हों वे श्रद्धालु हों, और चाहे उनमें इतना तीक्ष्ण विवेक न हो पर उनमें सत्य-अहिंसाके लिए मरने की शक्ति हो । इतना यदि है तो काफी है ।"

सारी पुस्तक बिड़लाजीकी तलस्पर्शी परीक्षण-शक्तिका सुंदर नमूना है । केवल एक स्थानपर मुझे ऐसा लगा कि वह जितनी दूर जाना चाहिए उतनी दूर नहीं गये । अहिंसा की समीक्षा करते हुए उन्होंने एक अबाध

सत्य प्रतिपादित किया है—अनासक्त होकर, अरागद्वेष होकर, जनहितके लिए की गई हिंसा अहिंसा है। यह अबाध सत्य तो गीतामें है ही। पर उसपरसे बिड़लाजीने जो अनुमान निकाला है, उसे शायद ही गांधीजी स्वीकारेंगे। बिड़लाजी कहते हैं—"गांधीजी स्वयं जीवन-मुक्त दशामें, चाहे वह दशा क्षणिक—जब निर्णय किया जारहा हो उस घड़ी के लिए—ही क्यों न हो, अहिंसात्मक हिंसा भी कर सकें, जैसे कि बछड़ेकी हिंसा, पर साधारण मनुष्यके लिए तो वह कर्म कौएके लिए हंसकी नकल होगी।" इसपर मैं दो बातें कहना चाहता हूं। बछड़ेकी हिंसा जीवन-मुक्त दशामें की गई हिंसाका उदाहरण है ही नहीं। थोड़े दिन पहले सेवाग्राममें एक पागल सियार आगया था। उसे मारनेकी गांधीजीने आज्ञा देदी थी, और वे मारनेवाले कोई अनासक्त जीवन-मुक्त नहीं थे। वह आवश्यक और अनिवार्य हिंसा थी, जितनी कि ऋषि-कार्य में कीटादि की हिंसा आवश्यक और अनिवार्य हो जाती है। हिंसाके भी कई प्रकार हैं। बछड़ेकी हिंसा का दूसरा प्रकार है। घुड़दौड़में जिस घोड़ेका पैर टूट जाता है या ऐसी चोट लगती है कि जिसका इलाज ही नहीं है, और पशु के लिए जीना एक यंत्रणा होजाता है, उसे अंग्रेज लोग मार डालते हैं। वे प्रेमसे, अद्वेषसे मारते हैं, पर वे मारनेवाले कोई अनासक्त या जीवन-मुक्त नहीं होते। जिस हिंसाको गीताने विहित कहा है, वह हिंसा अलौकिक पुरुष ही कर सकता है—राम, कृष्ण कर सकते हैं। परन्तु राम और कृष्ण, गांधीजी के अभिप्राय में, वहां ईश्वरवाचक हैं। गांधीजी अपनेको जीवन-मुक्त नहीं मानते और न वह और किसीको भी संपूर्ण जीवन-मुक्त मानने के लिए तैयार हैं। संपूर्ण जीवन-मुक्त ईश्वर ही है और यह गांधीजी की दृढ़ मान्यता है कि "हत्वाऽपि स इमांल्लोकान्न हन्ति निबध्यते" वचन भी ईश्वर के लिए ही है। इसलिए वह कहते हैं—मनुष्य चाहे जितना बड़ा क्यों न हो, चाहे जितना शुद्ध क्यों न हो, ईश्वर का पद नहीं ले सकता और न व्यापक जनहित के लिए भी उसे हिंसा करने का अधिकार है। इस निर्णयमेंसे सत्याग्रह और उपवासकी उत्पत्ति हुई।

इस एक स्थानको छोड़कर बाकी पुस्तकमें मुझे कहीं कुछ भी नहीं खटका, बल्कि सारा विवेचन इतना तलस्पर्शी और सारा दर्शन इतना दोष-मुक्त मालूम हुआ है कि मैं पुस्तकको प्रूफके रूपमें ही दो बार पढ़ गया, तथा और भी कई बार पढ़ूं तो भी मुझे थकान नहीं आयेगी। मुझे आशा है कि और पाठकोंकी भी यही दशा होगी और, जैसा कि मुझे मालूम हुआ है, औरोंको भी इस पुस्तक का पठन शांतिप्रद और चेतनाप्रद मालूम होगा।

सेवाग्राम,
८-६-४०

—महादेव देसाई

प्रकाशकीय

'बापू' का यह तीसरा संस्करण आपके सामने है। इस संस्करण में महात्माजी का एक पत्र ब्लाक बनाकर छाप दिया गया है, जो उन्होंने लेखक को इस पुस्तक के बारे में लिखा था। उस पत्र की प्रतिलिपि इस प्रकार है--

सेवाग्राम, २२-७-४१

भाई घनश्यामदास,

'बापू' अभी पूरी की। दो तीन जगह हकीकत दोष है। अभिप्राय को हानि नहीं पहुंचती है। निशानी की है।

बछड़ा के बारे में जो दलील की है वह कर सकते हैं लेकिन उसमें कुछ मौलिक दोष पाता हूं। जो रावणादि के वध के साथ यह वध किसी प्रकार मिलता नहीं है, बछड़े के वध में मेरा कुछ स्वार्थ नहीं था। केवल दुःख मुक्त करना ही कारण था। रावणादि के वध में तो लौकिक स्वार्थ था, पृथ्वी पर भार था उसे हलका करना था। उसका संहारक साक्षात् रामरूपी ईश्वर था। यहां तो संहारक कोई काल्पनिक अवतार न था। मेरा तो कथन यह है कि मेरी हालत में सब कोई ऐसा कर सकते हैं। अंबालाल ने ४० कुत्तों को मेरी प्रेरणा या प्रोत्साहन से मारे इसमें लौकिक कल्याण था सही। लेकिन इसमें और रावणादि के वध में बड़ा अंतर है। और मैंने तो इन चीजों का अलग अर्थ किया है। उसकी चर्चा वहां आवश्यक थी। ज्यादा और कोई समय आवश्यक समझा जाय तो।

भाषा मधुर है। कोई जगह दलील की पुनरुक्ति होगई है। यह काम प्रूफ सुधार में हो सकता था। उससे भाषा के प्रवाह में कुछ क्षति नहीं आती। शायद दूसरे तो इस पुनरुक्ति को देख भी नहीं सके होंगे।

अब तो तबीयत अच्छी होगी।

बापू के आशीर्वाद

१

गांधीजी का जन्म अक्तूबर सन् १८६९ ईस्वी मे हुआ। इस हिसाब से वह इकहत्तर वर्ष समाप्त कर चुके। अनन्तकाल के अपरिमित गर्भ में क्या इकहत्तर और क्या इकहत्तर सौ! अथाह सागर के जल में विद्यमान एक बूंद की गणना भले ही हो सके, पर अनन्तकाल के उदर में बसे हुए इकहत्तर साल की क्या बिसात? फिर भी यह सही है कि भारत के इस युग के इतिहास में इन इकहत्तर वर्षों का इतना महत्त्व है जितना और किसीका शायद ही हो।

भारतवर्ष में इस समय एक नई तरह की मानसिक हलचल का दौर-दौरा है; एक नई तरह की जाग्रति है; एक नये अनुभव में से हम पार हो रहे हैं। धार्मिक विप्लव यहां अनेक हुए हैं, पर राजनीति का जामा पहनकर धर्म किस तरह अपनी सत्ता जमाना चाहता है, यह इस देश के लिए एक नया ही अनुभव है। इसका अन्त क्या होगा, यह तो भविष्य ही बतायेगा।

पर जबकि सारा संसार अस्त्र-शस्त्रों के मारक गर्जन से त्रस्त है और विज्ञान नित्य ऐसे नये-नये ध्वंसक आविष्कार करने में व्यस्त है, जो छिन में एक पल पहले की हरी-भरी फुलवाड़ी को फूंककर स्मशान बना दे, जबकि स्वदेश और स्वदेश-भक्ति के नाम पर खून की नदियां बहाना गौरव की बात समझी जाती हो, जबकि सत्यानाशी कार्यों द्वारा मावन-धर्म की सिंहासन स्थापना का सुख-स्वप्न देखा जाता हो, ऐसे अन्धकार में गांधीजी का प्रवेश आशा की एक शीतल किरण की तरह है जो, यदि भगवान चाहें तो, एक प्रचण्ड जीवक तेज में परिणत होकर संसार में फिर शांति स्थापित कर सकती है।

पर शायद मैं आशा के बहाव में बहा जारहा हूं। तो भी इतना तो शुद्ध सत्य है ही कि गांधीजी के आविर्भाव ने इस देश में एक आशा, एक उत्साह, एक उमंग और जीवन में एक नया ढंग पैदा कर दिया है, जो हजारों साल के प्रमाद के बाद एक बिलकुल नई चीज है।

एक

किसी एक महापुरुष की दूसरे से तुलना करना एक कष्टसाध्य प्रयास है। फिर गांधी हर युग में पैदा भी कहां होते हैं ? हमारे पास प्राचीन इतिहास--जिसे दरअसल तवारीख कहा जासके--भी तो नहीं है कि हम गणना करें कि कितने हजार वर्षों में कै गांधी पैदा हुए। राम-कृष्ण चाहे देहधारी जीव रहे हों, पर कवि ने मनुष्य-जीवन की परिधि से बाहर निकाल कर उन्हें एक अलौकिक रूप दे दिया है। कवि तो कवि ही ठहरा, इसलिए उसका दिया हुआ अलौकिक स्वरूप भी अपूर्ण है। ऐसे स्वरूप के विवरण के लिए तो कवि अलौकिक, लेखनी अलौकिक और भाषा भी अलौकिक ही चाहिए। पर तो भी कवि की कृति के कारण राम-कृष्ण को मानवी मापदण्ड से मापना दुष्कर हो गया है।

इसके विपरीत, कवि पुष्कल प्रयत्न करने पर भी बुद्ध की ऐतिहासिकता और उसका मानवी जीवन न मिटा सका। इसलिए संसार के ऐतिहासिक महापुरुषों में बुद्ध ने एक अत्यन्त ऊंचा स्थान पाया। पर कलियुग में एक ही बुद्ध हुआ है और एक ही गांधी। बुद्ध ने अपने जीवन-काल में एक दीपक जलाया, जिसने उनकी मृत्यु के बाद अपने प्रचण्ड तेज से एशियाभर में प्रकाश फैला दिया। गांधीजी ने अपने जीवनकाल में उससे कहीं अधिक प्रखर अग्निशिखा प्रदीप्त की, जो शायद समय पाकर संसार-भर को प्रज्वलित करदे।

अपने जीवनकाल में गांधीजी ने जितना यश कमाया, जितनी ख्याति प्राप्त की और वह जितने लोकवल्लभ हुए, उतना शायद ही कोई ऐतिहासिक पुरुष हुआ हो। ऐसे पुरुष के विषय में कोई कहांतक लिखे ? इकहत्तर साल की क्रमबद्ध जीवनी शायद ही कभी सफलता के साथ लिखी जा सके। और फिर गांधीजी को पूरा जानता भी कौन है ?

'सम्यग् जानाति वै कृष्णः किंचित् पार्थो धनुर्धरः'

जैसे गीता के बारे में यह कहा गया है, वैसे गांधीजी के बारे में यह कहा जासकता है कि उन्हें भली प्रकार तो खुद वही जानते हैं, बाकी कुछ-कुछ महादेव देसाई भी।

२

मैंने गांधीजी को पहले-पहल देखा तब या तो उन्नीस सौ चौदह का अन्त था या पन्द्रह का प्रारम्भ। जाड़े का मौसम था। लन्दन से गांधीजी स्वदेश लौट आये थे और कलकत्ते आने की उनकी तैयारी थी। जब यह खबर सुनी कि कर्मवीर गांधी कलकत्ते आरहे हैं, तो सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं के दिल में एक तरह का चाव-सा उमड़ पड़ा। उन दिनों का सार्वजनिक जीवन कुछ दूसरा ही था। अखबारों में लेख लिखना, व्याख्यान देना, नेताओं का स्वागत करना और स्वयं भी स्वागत की लालसा का व्यूह रचना—सार्वजनिक जीवन करीब-करीब यहींतक सीमित था।

मैंने उन दिनों जवानी में पांव रक्खा ही था; बीसी बस खतम हुई ही थी। पांच सवारों में अपना नाम लिखाने की चाह लिये मैं भी फिरता था। मेलों में वालंटियर बनकर भीड़ में लोगों की रक्षा करना, बाढ़-पीड़ित या अकाल-पीड़ित लोगों की सेवा के लिए सहायक-केन्द्र खोलना, चन्दा मांगना और देना, नेताओं का स्वागत करना, उनके व्याख्यानों में उपस्थित होना, यह उन दिनों के सार्वजनिक जीवन में रस लेनेवाले नौजवानों के कर्त्तव्य की चौहद्दी थी। उनकी शिक्षा-दीक्षा इसी चौहद्दी के भीतर शुरू होती थी। मेरी भी यही चौहद्दी थी, जिसके भीतर रस और उत्साह के साथ मैं चक्कर काटा करता था।

नेतागण इस चौहद्दी के बाहर थे। उनके लिए कोई नियम, नियन्त्रण या विधान नहीं था। जोशीले व्याख्यान देना, चन्दा मांगना, यह उनका काम था। स्वागत पाना, यह उनका अधिकार था। इसके माने यह नहीं कि नेता लोग अकर्मण्य थे या कर्तव्य में उनका मोह था। बात यह थी कि उनके पास इसके सिवा कोई कार्यक्रम ही नहीं था; न कोई कल्पना थी। जनता भी उनसे इससे अधिक की आशा नहीं रखती थी। नेता थे भी थोड़े-

से, इसलिए उनका बाजार गरम था। अनुयायी भक्ति-भाव से पूजन-अर्चन करते, जिसे नेता लोग बिना संकोच के ग्रहण करते थे।

उस समय के लीडरों की नुक्ताचीनी करते हुए अकबर साहब ने लिखा था:—

> क़ौम के ग़म में डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ,
> रंज लीडर को बहुत है, मगर आराम के साथ।

अवश्य ही अकबर साहब ने घोड़े और गदहे को एक ही चाबुक से हांकने की कोशिश की, मगर इसमें सरासर अत्युक्ति थी ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। यदि कुछ लीडरों के साथ उन्होंने अन्याय किया, तो बहुतों के बारे में उन्होंने यथार्थ बात भी कह दी।

गांधीवाद के आविर्भाव के बाद तो मापदण्ड कुछ न्यारा ही बन गया। नेताओं को लोग दूरबीन और खुर्दबीन से देखने लग गये। एक ओर चरित्र की पूछताछ बढ़ गई, तो दूसरी ओर उसके साथ-साथ पाखण्ड भी बढ़ा। स्वार्थ में वृद्धि हुई, पर त्याग भी बढ़ा। शांत सरोवर में गांधीवाद की मथनी ने पानी को बिलो डाला। उसमें से अमृत भी निकला और विष भी। उसमें से देवासुर-संग्राम भी निकला। गांधीजी ने न मालूम कितने बार विष की कड़वी घूंटें पीं और शिव की तरह नीलकंठ बने। संग्राम तो अभी जारी ही है और सुरों की विजय अन्त में अवश्यम्भावी है, यह आशा लिये लोग बैठे हैं। पर जिस समय की मैं बातें कर रहा हूं, उस समय यह सब कुछ न था। सरोवर का पानी शांत था। ऊषा की लालिमा शांतभाव से गगन में विद्यमान थी; पर सूर्योदय अभी नहीं हुआ था। पुनर्जन्म की तैयारी थी; पर या तो नये जन्म से पहले की मृत्यु का सन्नाटा था, या प्रसव-वेदना के बाद की सुषुप्ति-जनित शांति। न नेताओं को पाखण्ड में आत्मग्लानि थी, न अनुयायी ही इस चीज को वैसी बुरी नजर से देखते थे।

ऐसे समय में गांधीजी अफ्रीका से लन्दन होते हुए स्वदेश लौटे और सारे हिन्दुस्तान का दौरा किया। कलकत्ते में भी उसी सिलसिले में उनके आगमन की तैयारी थी।

मुझे याद आता है कि गांधीजी के प्रथम दर्शन ने मुझमें काफी कुतूहल पैदा किया। एक सादा सफेद अंगरखा, धोती, सिर पर काठियावाड़ी फेंटा, नंगे पांव, यह उनकी वेशभूषा थी। हम लोगों ने बड़ी तैयारी से उनका स्वागत किया। उनकी गाड़ी को हाथ से खींचकर उनका जुलूस निकाला। पर स्वागतों में भी उनका ढंग निराला ही था। मैं उनकी गाड़ी के पीछे साईस की जगह खड़ा होकर 'कर्मवीर गांधी की जय!' गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहा था। गांधीजी के साथी ने, जो उनकी बगल में बैठा था, मुझसे कहा : "'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' ऐसा पुकारो। गांधीजी इससे प्रसन्न होंगे।" मैंने भी अपना राग बदल दिया।

पर मालूम होता था, गांधीजी को इन सब चीजों में कोई रस न था। उनके व्याख्यान में भी एक तरह की नीरसता थी। न जोश था, न कोई अस्वाभाविकता थी, न उपदेश देने की व्यास-वृत्ति थी। आवाज में न चढ़ाव था, न उतार। बस एक तार था, एक तर्ज था। पर इस नीरसता के नीचे दबी हुई एक चमक थी, जो श्रोताओं पर छाप डाल रही थी।

मुझे याद आता है कि कलकत्ते में उन्होंने जितने व्याख्यान दिये—शायद कुल पांच व्याख्यान दिये होंगे—वे प्रायः सभी हिन्दी भाषा में दिये। सभी व्याख्यानों में उन्होंने गोखले की जी-भरकर प्रशंसा की। उन्हें अपना राजनैतिक गुरु बताया और यह भी कहा कि श्री गोखले की आज्ञा है कि मैं एक साल देश में भ्रमण करूं, अनुभव प्राप्त करूं। इसलिए जबतक मुझे सम्यक् अनुभव नहीं हो जाता, तबतक मैं किसी विषय पर अपनी पक्की राय कायम करना नहीं चाहता। नौजवानों को गोखले का ढंग नापसन्द था, क्योंकि वह होश की, न कि जोश की, बातें किया करते थे, जो उस समय के नौजवानों की शिक्षा-दीक्षा से कम मेल खाती थीं। लोकमान्य लोगों के आराध्यदेव और गोखले उपहास्यदेव थे। इसलिए हम सभी नौजवानों को गांधीजी का बार-बार गोखले को अपना राजनैतिक गुरु बताना खटका।

पर तो भी गांधीजी के उठने-बैठने का ढंग, उनका सादा भोजन,

सादा रहन-सहन, विनम्रता, कम बोलना, इन सब चीजों ने हम लोगों को एक मोहिनी में डाल दिया। नये नेता की हम लोग कुछ थाह न लगा सके।

मैंने उन दिनों गांधीजी से पूछा कि क्या किसी सार्वजनिक मसले पर आपसे खतोकिताबत हो सकती है? उन्होंने कहा, 'हां।' मुझे यह विश्वास नहीं हुआ कि किसी पत्र का उत्तर एक नेता इतनी जल्दी दे सकता है। वह भी मेरे-जैसे एक अनजान साधारण नौजवान को। पर इसकी परीक्षा मैंने थोड़े ही दिनों बाद कर ली। उत्तर में तुरन्त एक पोस्टकार्ड आया, जिसमें पैसे की किफायत तो थी ही, भाषा की भी काफी किफायत थी।

पता नहीं कितने नौजवानों पर गांधीजी ने इस तरह छाप डाली होगी, कितनों को उलझन में डाला होगा, कितनों के लिए वह कुतूहल की सामग्री बने होंगे! पर १९१५ में जिस तरह वह लोगों के लिए पहेली थे, वैसे ही आज भी हैं।

३

१९३२ के सत्याग्रह की समाप्ति के बाद लार्ड विलिंग्डन पर एक मर्तबा, शायद १९३४ की बात है, मैंने जोर डाला कि आप इस तरह गांधीजी से दूर न भागें, उनसे मिलें, उनको समझने की कोशिश करें, इसीमें भारत और इंग्लिस्तान दोनों का कल्याण है। पर वाइसराय पर इसका कोई असर न हुआ। उन्हें भय था कि गांधीजी उन्हें कहीं फांस न लें। वह मानते थे कि गांधीजी का विश्वास नहीं किया जा-सकता। मुझे मालूम है कि भारत-मंत्री ने भी वाइसराय पर गांधीजी से मेल-जोल करने के लिए जोर डाला था, पर सारी क्रिया निष्फल गई। जिस मेल-मिलाप का अमल-दरामद इर्विन के जाने के बाद टूटा, वह लिनलिथगो के आनेतक न सध सका।

जिन गांधीजी पर मेरी समझमें निर्भय होकर विश्वास किया जासकता है, उनके प्रति वाइसराय विलिंग्डन का विश्वास न था! वाइसराय ने कहा, "वह इतने चतुर हैं, बोलने में इतने मीठे हैं, उनके शब्द इतने द्विअर्थी होते हैं कि जबतक मैं उनके वाक्पाश में पूरा फंस न चुकूंगा, तबतक मुझे पता भी न लगेगा कि मैं फंस गया हूं। इसलिए मेरे लिए निर्भय मार्ग तो यही है कि मैं उनसे न मिलूं, उनसे दूर ही रहूं।" मेरे लिए यह अचम्भे की बात थी कि गांधीजी के बारे में किसीके ऐसे विचार भी हो सकते हैं। पर पीछे मालूम हुआ कि ऐसी श्रेणी में वाइसराय अकेले ही न थे, और भी कई लोगों को ऐसी शंका रही है।

अमरीका के एक प्रतिष्ठित ग्रंथकार श्री गुंथर ने गांधीजी के बारे में लिखा है:

"महात्मा गांधी में ईसामसीह, चाणक्य और बापू का अद्भुत सम्मिश्रण है। बुद्ध के बाद वह सबसे महान व्यक्ति हैं। उनसे अधिक

पेचदार पुरुष की कल्पना भी नहीं की जासकती। वह एक ऐसे व्यक्ति हैं, जो किसी तरह पकड़ में नहीं आ सकते। यह मैं कुछ अनादर-भाव से नहीं कह रहा हूं। एक ही साथ महात्मा, राजनीतिज्ञ, अवतार और प्रतापी अवसरवादी होना, यह मानवी नियमों का अपवाद या अवज्ञा है। जरा उनकी असंगतियों का तो खयाल कीजिए। एक तरफ तो गांधीजी का अहिंसा और असहयोग में दृढ़ विश्वास; और दूसरी ओर इंग्लिस्तान को युद्ध में सहायता देना! उन्होंने नैतिक दृष्टि से कैदखाने में उपवास किये, पर वे उपवास ही उनकी जेलमुक्ति के साधन भी बने, यद्यपि उनको इस परिणाम से कोई गरज नहीं थी। जबतक आप यह न समझले कि वह सिद्धांत से कभी नहीं हटते, चाहे छोटी-मोटी विगतों पर कुछ इधर-उधर हो जायं, तबतक उनकी असंगतियां बेतरह अखरती हैं। इंग्लिस्तान से असहयोग करते हुए भी आज गांधीजी से बढ़कर इंग्लिस्तान का कोई मित्र नहीं। आधुनिक विज्ञान से उन्हें सूग-सी है, पर वह थर्मामीटर का उपयोग करते हैं और चश्मा लगाते हैं। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य चाहते हैं, पर उनका लड़का थोड़े दिनों के लिए धर्म-परिवर्तन करके मुसलमान बन गया था, इससे उन्हें चोट लगी। कांग्रेस के वह प्राण हैं, उसके मेरुदण्ड हैं, उसकी आंखें हैं, उसके पांव हैं, पर कांग्रेस के वह चार आनेवाले मेम्बर भी नहीं। हर चीज को वह धार्मिक दृष्टि से देखते हैं; पर उनका धर्म क्या है, इसका विवरण कठिन है। इससे ज्यादा और गोरखधंधा क्या हो सकता है? फिर भी सत्य यही है कि गांधीजी एक महान् व्यक्ति हैं, जिनका जीवन शुद्ध शौर्य की प्रतिमा है।"

इसमें कोई शक नहीं कि गांधीजी परस्पर-विरुद्ध-धर्मी गुणों के एक खासे सम्मिश्रण हैं। वह वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि हैं। अत्यन्त सरल, फिर भी अत्यन्त दृढ़; अतिशय कंजूस पर अतिशय उदार हैं। उनके विश्वास की कोई सीमा नहीं; पर मैंने उन्हें बेमौके अविश्वास भी करते पाया है। गांधीजी एक कुरूप व्यक्ति हैं जिनके शरीर, आंखों और हरेक अवयव से दैवी सौन्दर्य और तेज की आभा टपकती है। उनकी

खिलखिलाहट ने न मालूम कितने लोगों को मोहित कर दिया। उनके बोलने का तरीका बोदा होता है, पर उसमें कोई मोहिनी होती है जिसे पी-पीकर हजारों प्रमत्त हो गये।

गांधीजी को शब्दांकित करना दुष्कर प्रयास है। कोई पूछे कि कौन-सी चीज है जिसने गांधीजी को महात्मा बनाया, तो उसका विस्तार-पूर्वक वर्णन करने पर भी शायद सफलता न मिले। बात यह है कि गांधीजी, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, इतने-परस्पर-विरुद्ध और समान सम्मिश्रणों के पुतले हैं कि पूरा विश्लेषण करना एक कठिन प्रयत्न है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये सब चीजें हैं, जिनकी सारी शक्ति ने गांधीजी को बड़ा बनाया। गांधीजी को आदमी उनसे सम्बन्धित साहित्य को पढ़कर तो जान ही नहीं सकता, पास में रहकर भी सम्यक् नहीं जान सकता।

गांधीजी का जीवन एक बृहत् दैवी जुलूस है, जिसने उनके होश सम्हालते ही गति पाई, जो अब भी द्रुतगति से चलता ही जारहा है और मृत्यु तक लगातार चलता ही रहेगा। इस जुलूस में न मालूम कितने दृश्य हैं, न मालूम कितने अंग हैं। पर इन सब दृश्यों का, इन सब अंगों का एक ही ध्येय है और एक ही दिशा में वह जुलूस लगन के साथ चला जा रहा है। हर पल उस जुलूस को अपने ध्येय का ज्ञान है, हर पल उग्र प्रयत्न जारी है, और हर पल वह अपने ध्येय के निकट पहुंच रहा है।

किसीने गांधीजी को केवल 'बापू' के रूप में ही देखा है, किसीने महात्मा के रूप में, किसीने एक राजनैतिक नेता के रूप में और किसीने एक बागी के रूप में।

गांधीजी ने सत्य की साधना की है। अहिंसा का आचरण किया है। ब्रह्मचर्य का पालन किया है। भगवान की भक्ति की है। हरिजनों का हित साधा है। दरिद्रनारायण की पूजा की है। स्वराज्य के लिए युद्ध किया है। खादी-आंदोलन को अपनाया है। हिन्दू-

मुस्लिम-ऐक्य के लिए अथक और अकथ प्रयत्न किया है। प्राकृतिक चिकित्सा के प्रयोग किये हैं। गोवंश के उद्धार की योजना की है। भोजन के सम्बन्ध में स्वास्थ्य और अध्यात्म की दृष्टि से अन्वेषण किये हैं। ये सब चीजें गांधीजी का अंग बन गई हैं। इन सारी चीजों का एकीकरण जिसमें समाप्त होता है, वह गांधी है।

"मेरा जीवन क्या है—यह तो सत्य की एक प्रयोगशाला है। मेरे सारे जीवन में केवल एक ही प्रयत्न रहा है—वह है मोक्ष की प्राप्ति, ईश्वर का साक्षात् दर्शन। मैं चाहे सोता हूं या जागता हूं, उठता हूं या बैठता हूं, खाता हूं या पीता हूं, मेरे सामने एक ही ध्येय है। उसीको लेकर मैं जिन्दा हूं। मेरे व्याख्यान या लेख और मेरी सारी राजनैतिक हलचल, सभी उसी ध्येय को लक्ष्य में रखकर गति-विधि पाते हैं। मेरा यह दावा नहीं है कि मैं भूल नहीं करता। मैं यह नहीं कहता कि मैंने जो किया वही निर्दोष है। पर मैं एक दावा अवश्य करता हूं कि मैंने जिस समय जो ठीक माना उस समय वही किया। जिस समय जो 'धर्म' लगा, उससे मैं कभी विचलित नहीं हुआ। मेरा पूर्ण विश्वास है कि सेवा ही धर्म है और सेवा में ही ईश्वर का साक्षात्कार है।"

गांधीजी का जीवन क्या है, इसपर उनकी उपर्युक्त उक्ति काफी प्रकाश डालती है। ये बड़े बोल हैं जो एक प्रकाश-पुंज से प्लावित व्यक्ति ही अपने मुंह से निकाल सकता है, पर—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

ये क्या कम बड़े बोल थे?

४

मैंने एक बार कौतुकवश गांधीजी से प्रश्न किया कि आप अपने कौन-से कार्य के सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि 'बस, यह मेरा काम मेरे सारे कामों का शिखर है ?'

गांधीजी इसका उत्तर तुरन्त नहीं दे सके। उन्हें एक पल—बस एक ही पल—ठहरना पड़ा, क्योंकि वह सहसा कोई उत्तर नहीं दे सकते थे। समुद्र से पूछो कि कौन-सा ऐसा विशेष जल है जिसने आपको सागर बनाया, तो समुद्र क्या उत्तर देगा ? गांधीजी ने कहा, "सबसे बड़ा काम कहो तो खादी और हरिजन-कार्य।" मुझे यह उत्तर कुछ पसन्द नहीं आया, इसलिए मैंने अपना सुझाव पेश किया। "और अहिंसा ?—क्या आपकी सबसे बड़ी देन अहिंसा नहीं है ?" "हां, है तो, पर यह तो मेरे हर काम में ओतप्रोत है। पर यदि समष्टि अहिंसा से व्यष्टि कार्य का भेद करो, तो कहूंगा—खादी और हरिजन-कार्य, ये मेरे श्रेष्ठतम कार्य हैं। अहिंसा तो मानों मेरी माला के मनकों में धागा है, जो मेरे सारे कामों में ओतप्रोत है।"

हरिजन-कार्य अत्यन्त महान् हुआ है, इसमें कोई शक नहीं। इनको यह चटक कब लगी, यह कोई नहीं बता सकता। पर जब यह बारह साल के थे, तभी इस विषय में इनका हृदय-मंथन शुरू होगया था। इनके मेहतर का नाम ऊका था। वह पाखाना साफ करने आया करता था। इनकी मां ने इनसे कहा, "इसे मत छूना।" पर गांधीजी को इस अछूतपन में कोई सार नहीं लगा। अछूतपन अधर्म है, ऐसा इनका विश्वास बढ़ने लगा था। उस समय के इनके बचपन के खयालात से ही पता लग जाता है कि इन्हें अछूतपन हिंदूधर्म में एक असह्य कलंक लगता था। जब इन्हें हिन्दू-धर्म में पूर्ण श्रद्धा नहीं थी, तब भी अछूतपन के कारण इन्हें काफी

वेदना होती थी। यही संस्कार थे कि जिनके कारण आज से चालीस वर्ष पहले जब राजकोट में प्लेग चला और इन्होंने जन-सेवा का कार्यभार अपने ऊपर लिया, तब अछूत-बस्ती का तुरन्त निरीक्षण किया। उस जमाने में इनके साथियों के लिए इनका यह कार्य अनोखा था, पर हरिजन-सेवा के बीज उस समय तक अंकुरित हो चुके थे, जो फिर समय पाकर पनपते ही गये। और उस सेवा-वृक्ष की प्रचण्डता तो हरिजन-उपवास के समय ही प्रत्यक्ष हुई। हरिजन-उपवास तो क्या था, हिन्दू-समाज को छिन्न-भिन्न होने से बचाने का एक जबरदस्त प्रयत्न था और उसमें गांधीजी को पूर्ण सफलता मिली।

एक भीषण षड्यन्त्र था कि पांच करोड़ हरिजनों को हिन्दू-समाज से पृथक् कर दिया जाय। इस षड्यन्त्र में बड़े-बड़े लोग शरीक थे, इसका पता कुछ ही लोगों को था। गांधीजी इससे परिचित थे। उन्होंने द्वितीय गोलमेज-परिषद् में ही अपने व्याख्यान में कह दिया था कि हरिजनों की रक्षा के लिए वह अपनी जान लड़ा देंगे। इस मर्मस्पर्शी चुनौती का उस समय किसीने इतना गम्भीर अर्थ नहीं निकाला। पर गांधीजी ने तो अपना निर्णय उसी समय गढ़ डाला था। इसलिए प्रधानमन्त्री ने जब अपना हरिजन-निर्णय प्रकट किया, तब गांधीजी ने हरिजन-रक्षा के लिए सचमुच ही अपनी जान लड़ा दी। इस प्रकार गांधीजी ने आमरण उपवास करके हिन्दू-समाज और हरिजन दोनों को उबार लिया। अहिंसात्मक शस्त्र का यह प्रयोग बड़ी सफलता के साथ कारगर हुआ। इसमें उनकी कोई राजनैतिक चाल नहीं थी, हालांकि इसका राजनैतिक फल भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं था। पर उनकी मंशा तो केवल धार्मिक थी।

"हरिजनों को हमने बहुत सताया है। हम अपने पापों का प्रायश्चित्त करके ही उनसे उऋण हो सकते हैं"—इस मनोवृत्ति में धर्म और अर्थ दोनों आ जाते हैं। पर धर्म मुख्य था, अर्थ गौण। इसका असर व्यापक हुआ। हिन्दू-समाज के टुकड़े होते-होते बच गये। षड्यन्त्र बेकार हुआ। जिन्हें इस षड्यन्त्र का पता नहीं, उनके लिए हरिजन कार्य

की गुरुता का अनुमान लगाना मुश्किल है। खादी को भी गांधीजी ने वही स्थान दिया, जो हरिजन-कार्य को। इसको समझना आज जरा कठिन है पर शायद फिर कभी यह भी स्पष्ट हो जाय।

"और अहिंसा?—क्या आपकी सबसे बड़ी देन अहिंसा नहीं है?" "हां है, पर यह तो मेरे काम में ओतप्रोत है। अहिंसा तो मानों मेरी माला के मनकों में धागा है।" यह प्रश्नोत्तर क्या है, गांधीजी की जीवनी का सूत्र-रूप में वर्णन है। सत्य कहो या अहिंसा, गांधीजी के लिए ये दोनों शब्द करीब-करीब पर्यायवाची हैं। इसी तरह सत्य और ईश्वर भी उनके पर्यायवाची शब्द ह। पहले वह कहते थे कि ईश्वर सत्य है, अब कहते हैं कि सत्य ही ईश्वर है। अहिंसा यदि सत्य है और सत्य अहिंसा है, और ईश्वर यदि सत्य है और सत्य ईश्वर है, तो यह भी कहा जा सकता है कि ईश्वर अहिंसा है और अहिंसा ईश्वर है। चूंकि सत्य, अहिंसा और ईश्वर इन तीनों की सम्पूर्ण प्राप्ति शायद मानव-जीवन में असम्भव है, इसलिए गांधीजी तीनों को एक ही सिंहासन पर बिठाकर तीनों की एक ही साथ पूजा करते हैं।

परिणाम यह हुआ कि प्राणवायु जैसे शरीर की तमाम क्रियाओं को जीवन देती है, वैसे ही गांधीजी की अहिंसा उनके सारे कामों का प्राण हो गई है। कितने प्रवचन गांधीजी ने इस विषय पर किये होंगे; कितने लेख लिखे होंगे! फिर भी कितने आदमी उनके तात्पर्य को समझे? और कितनों ने समझकर उसे हृदयंगम किया? कितनों ने उसे आचरण में लाने की कोशिश की? और कितने सफल हुए? और दूसरी ओर गांधीजी की अहिंसा-नीति व्यंग्य का भी कम शिकार न बनी। कुतर्कों की कमी न रही। पर इन सबके बीच ऐसे प्रश्न भी उपस्थित होते ही हैं, जो सरल भाव से शंकास्पद लोगों द्वारा केवल समाधान के लिए ही किये जाते हैं।

"अहिंसा तो संन्यासी का धर्म है। राजधर्म में अहिंसा का क्या काम? हम अपनी धन-सम्पत्ति की रक्षा अहिंसा द्वारा कैसे कर सकते

हैं ? क्या कभी सारा समाज अहिंसात्मक बन सकता है ? यदि नहीं तो फिर थोड़े-से आदमियों के अहिंसा धारण करने से उसकी उपयोगिता का महत्त्व क्या ? अहिंसा का उपदेश क्या कायरता की वृद्धि नहीं करता ? और गांधीजी के बाद अहिंसा की क्या प्रगति होगी ?"

ऐसे-ऐसे प्रश्न रोज किये जाते हैं। गांधीजी उत्तर भी देते हैं, पर प्रश्न जारी ही हैं। क्योंकि यदि हम केवल जिज्ञासा ही करते रहें और आचरण का प्रयत्न भी न करें, तो फिर शंका का समाधान भी क्या हो सकता है ? गुड़ का स्वाद भी तो आखिर खाने से ही जाना जाता है।

"हां, अहिंसा तो संन्यासी का धर्म है। राजधर्म में तो हिंसा, छल-कपट सब विहित हैं। हम निःशस्त्र होकर आततायी का मुकाबला करें तो वह हमें दबा लेगा, हमारी हार होगी और आततायी की जीत। 'आततायी वधार्हणः', 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्' ये शास्त्रों के वचन हैं।

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिः धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते आततायिनः ।।

ये सब कुकर्मी आततायी हैं। इन्हें मारना ही चाहिए। यदि हम आततायी को दण्ड न दें तो संसार में जुल्म की वृद्धि होगी, सन्तजनों के कष्ट बढ़ेंगे, अधर्म की वृद्धि और धर्म का ह्रास होगा।"

ऐसी दलीलें रोज सामने आती हैं। पर आश्चर्य तो यह है कि ऐसे तार्किक कोई राजा-महाराजा या राजधर्मी मनुष्य हों सो नहीं। जज का क्या धर्म है, इसकी चर्चा रास्ता चलनेवाले मनुष्य क्वचित् ही करते सुने जाते हैं। फिर भी रास्ते चलते आदमी अपने को राजधर्म का अधिकारी क्यों मान लेते हैं ? यदि जज किसी को फांसी की सजा दे सकता है, तो क्या रास्ते चलनेवाले सभी आदमी फांसी की सजा देने के अधिकारी हो सकते हैं ? कोई तार्किक तर्क करने से पहले अपनेआप से ऐसा प्रश्न नहीं करता। और हमारा विपक्षी ही आततायी है, हम तो दण्ड देने के ही अधिकारी हैं, ऐसा भी हम सहज ही क्यों मान लेते हैं ? आततायी

ादि हमीं हों तो फिर क्या?

हिटलर कहता है, चर्चिल आततायी है; चर्चिल कहता है हिटलर ातताायी है। परस्पर का यह आरोप पूरी सरगर्मी के साथ जारी है। ाब दोनों ही अपने-आपको दण्ड देने का अधिकारी मानते हैं, ऐसी स्थिति ों निर्णय तो तटस्थ पुरुष ही कर सकता है। पर तटस्थ पुरुष की बात दोनों-े-दोनों यदि स्वीकार करें, तो फिर दण्ड देने या लेने का सवाल ही नहीं ़हता।

बात तो यह है कि अक्सर हम अपनी हिंसा-वृत्ति का पोषण करने े लिए ही प्रमाण का सहारा ढूंढ़ते हैं। आततायिनमायान्तं हन्यादेवा-वेचारयन् का उपयोग अपने विपक्षी के लिए ही हम करते हैं। ऐसा तो ोई नहीं कहता कि मैं आततायी हूं, इसलिए मेरा वध किया जाय। ऐसा कोई कहे तब तो तर्क में जान आ जाय। पर 'मो सम कौन कुटिल खल कामी'—ऐसा तो सूरदास ने ही कहा। यदि हम विपक्षी के दुर्गुणों की अवगणना करके अपने दोषों का आत्म-निरीक्षण ज्यादा जाग्रत होकर करें, तो संसार का ारा पाप छिप जाय।

धन-सम्पत्ति-संग्रह, माल-जायदाद इत्यादि की रक्षा क्या अहिंसा े हो सकती है? हो भी सकती है और नहीं भी। जो लोग निजी उप-ोग के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं, संभव नहीं कि वे अहिंसानीति के पात्र हों। अहिंसा यदि कायरता का दूसरा नाम नहीं, तो फिर सच्ची अहिंसा वह है ो अपने स्वार्थ के लिए संग्रह करना नहीं सिखाती। अहिंसक को लोभ कहां? ऐसी हालत में अहिंसक को अपने लिए संग्रह करने की या रक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं होती। योग-क्षेम के झगड़े में शायद ही अहिंसा का पुजारी पड़े। 'निर्योगक्षेम आत्मवान्'—गीता ने यह धर्म अर्जुन जैसे गृहस्थ व्यक्ति को बताया है। यह तो संन्यासी का धर्म है—ऐसा गीता ने नहीं कहा। गीता संन्यास नहीं, कर्म सिखाती है, जो गृहस्थ का धर्म है। अहिंसावादी का भी शुद्ध धर्म उसे योग-क्षेम के झगड़े से दूर ़हना सिखाता है। पर संग्रह करना और उसकी रक्षा करना 'स्व' और

'पर' दोनों के लाभ के लिए हो सकता है। जो 'स्व' के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं, वे अहिंसा-धर्म की पात्रता सम्पादन नहीं कर सकते। जो 'पर' के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं, वे गांधीजी के शब्दों में 'ट्रस्टी' हैं। वे अनासक्त होकर योग-क्षेम का अनुसरण कर सकते हैं। वे संग्रह रखते हुए भी अहिंसावादी हैं, क्योंकि उन्हें संग्रह में कोई राग नहीं। धर्म के लिए जो संग्रह है वह धर्म के लिए अनायास छोड़ा भी जा सकता है और उसकी रक्षा का प्रश्न हो तो वह तो धर्म से ही की जा सकती है, पाप से नहीं। इसके विपरीत जो लोग संग्रह में आसक्त हैं वे न तो अहिंसात्मक ही हो सकते हैं न फिर अहिंसा से धन की रक्षा का प्रश्न ही उनके सम्बन्ध में उपयुक्त है। पर यह संभव है कि ऐसे लोग हों जो पूर्णतः अहिंसात्मक हों, जो सब तरह से पात्र हों और अपनी आत्मशक्ति द्वारा, यदि उन्हें ऐसा करना धर्म लगे तो, किसीके संग्रह की भी रक्षा कर सकें।

पर यह कभी न भूलना चाहिए कि अहिंसक और हिंसक मार्ग की कोई तुलना है ही नहीं। दोनों के लक्ष्य ही अलग-अलग हैं। जो काम हिंसा से सफलतापूर्वक हो सकता है—चाहे वह सफलता क्षणिक ही क्यों न हो—वह अहिंसा से हो ही नहीं सकता। मसलन हम अहिंसात्मक उपायों से साम्राज्य नहीं फैला सकते, किसीका देश नहीं लूट सकते। इटली ने अबीसीनिया में जो अपना साम्राज्य स्थापित किया, वह तो हिंसात्मक उपायों द्वारा ही हो सकता था।

इसके माने यह हैं कि अहिंसा से हम धर्म की रक्षा कर सकते हैं, पाप की नहीं। और संग्रह यदि पाप का दूसरा नाम है, तो संग्रह की भी नहीं। अहिंसा में जिन्हें रुचि है, वे पाप की रक्षा करना ही क्यों चाहेंगे? अहिंसा का यह मर्यादित क्षेत्र यदि हम हृदयंगम करलें, तो इससे बहुत-सी शंकाओं का समाधान अपनेआप हो जायगा। बात यह है कि जिस चीज की हम रक्षा करना चाहते हैं वह यदि धर्म है, तब तो अहिंसात्मक विधियों से विपक्षी का हम सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकते हैं। और यदि वह पाप है, तो हमें स्वयं उसे त्याग देना चाहिए और ऐसी हालत
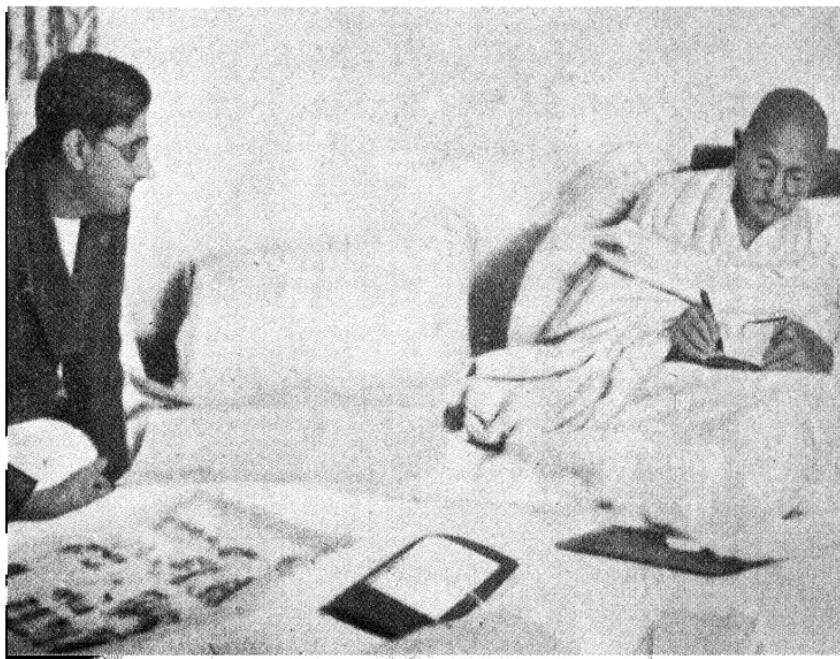
लेखक : गांधीजी के साथ अपनी ४६वीं वर्षगांठपर : श्रीरामनवमी : संवत १९९६

में प्रतिकार का प्रश्न ही नहीं रहता।

यह निर्णय फिर भी हमारे लिए बाकी रह जाता है कि "धर्म क्या है, अधर्म क्या है ?" पर धर्माधर्म के निर्णय में सत्य के अनुयायी को कहां कठिनता हुई है ?

जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ;
हौं बौरी ढूंढ़न गई, रही किनारे बैठ।

असल बात तो यह है कि जब हम धर्म की नहीं, पाप की ही रक्षा करना चाहते हैं, और चूंकि अहिंसा से पाप की रक्षा नहीं हो सकती, तब अहिंसा के गुण-प्रभाव में हमें शंका होती है और अनेक तर्क-वितर्क उपस्थित होते हैं।

राजनीति में अहिंसा के प्रवेश से यह उलझन इसलिए बढ़ गई है कि राजनीति का चित्र हमने वही खींचा है, जो यूरोप की राजनीति का हमारे सामने उपस्थित है। जातीयता का अभिमान, जातियों में परस्पर वैरभाव, दूसरे देशों को दबा लेने का लोभ, हमारा उत्थान, दूसरों के नाश से ही हो सकता है ऐसा भ्रम, उससे प्रभावान्वित होकर सीमा की मोर्चा-बन्दी करना और नाना प्रकार के मारण-जारण शस्त्रास्त्रों की पैदाइश बढ़ाना। घर के भीतर भी वही प्रवृत्ति है, जो बाहर के देशों के प्रति है। ऐसी हालत में अहिंसा हमारा शस्त्र हो या हिंसा, इसका निर्णय करने से पहले तो हमें यह निर्णय करना होगा कि हमें चाहे व्यक्ति के लिए चाहे समाज के लिए शुद्ध धर्म का मार्ग ही अनुसरण करना है, या पाप का ? अपनी राज-नीति हम मानवता की विस्तृत बुनियाद पर रचना चाहते हैं या कुछ लोगों के स्वार्थ की संकुचित भित्ति पर ? फिर चाहे वे कुछ लोग हमारे कुटुम्ब के हों या कबीले के, प्रांत के या देश के।

यूरोप में कई ऐसे सच्चे त्यागी हैं, जो निजी जीवन में केवल सत्य का ही व्यवहार करते हैं पर जहां स्वदेश के हानि-लाभ का प्रश्न उठता है वहां सत्य, ईमानदारी, भलमनसाहत, सारी चीजों को तिलांजलि देने में नहीं हिचकते। उनके लिए—यदि वे अहिंसा धारण करना चाहें तो—

एक ही मार्ग होगा—पापवृत्ति का त्याग, चाहे वह निजी स्वार्थ के लिए हो या स्वदेश के लिए। उनके लिए स्वदेश की कोई सीमा नहीं।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

ईश्वर की सारी सृष्टि उनके लिए स्वदेश है। दैवी संपदा की स्थापना और आसुरी का ह्रास, यह उनका ध्येय है।

गांधीजी इसीलिए आत्म-शुद्धि पर बार-बार जोर देते हैं। यह ठीक भी है, क्योंकि अहिंसा-शस्त्र का संचालन बाहर की वस्तुओं पर नहीं, भीतर की वृत्तियों पर अवलम्बित है। फूटी हुई बन्दूक में गोली भरकर चलाओ, तो क्या कभी निशाने पर जा सकती है? वैसे ही, जो मनुष्य शुद्ध हृदयवाला नहीं है, दैवी संपदावाला नहीं है, वह अहिंसा के शस्त्र को क्या उठायेगा? असल में तो शुद्ध मनुष्य स्वयं ही शस्त्र है और स्वयं ही उसका चालक है। यदि आत्मशुद्धि नहीं है, आसुरी संपदावाला है, तो उसकी हालत फूटी बन्दूक जैसी है। उसके लिए अहिंसा के कोई माने नहीं। अहिंसक में ही अहिंसा रह सकती है। अहिंसा धारण करने से पहले मनुष्य को अहिंसक बनना है। और अहिंसक का संकुचित अर्थ भी किया जाय, तो वह यह है कि न्यायपूर्वक चलनेवाला नागरिक।

"क्या सारा समाज अहिंसात्मक हो सकता है? यदि नहीं, तो फिर इसका व्यावहारिक महत्त्व क्या?" यह भी प्रश्न है। पर गांधीजी कहां यह आशा करते हैं कि सारा समाज हिंसा का पूर्णतया त्याग कर देगा? उनकी व्यूह-रचना इस बुनियाद पर है ही नहीं कि सारा समाज अहिंसा-धर्म का पालन करने लग जाये। उनकी यह आशा अवश्य है कि समाज का एक बृहत अंग हिंसा की पूजा करना तो कम-से-कम छोड़ दे, चाहे फिर वह आचरणों में पूर्ण अहिंसावादी न भी हो सके।

यह आशा नहीं की जाती कि समाज का हर मनुष्य पूर्ण अहिंसक होगा। पर जहां हिंसक सेना के बल पर शांति और साम्राज्य की नींव डाली जाती है, वहां भी यह आशा नहीं की जाती कि हर मनुष्य युद्धकला

में निपुण होगा। करोड़ों की बस्तीवाले मुल्क की रक्षा के लिए कुछ थोड़े लाख मनुष्य काफी समझे जाते हैं। सौ में एक मनुष्य यदि सिपाही हो तो पर्याप्त माना जाता है। फिर उन सिपाहियों में से भी जो ऊपरी गणनायक होते हैं उन्हींकी निपुणता पर सारा व्यवहार चलता है।

आज इंग्लिस्तान में कितने निपुण गणनायक होंगे, जो फौज के संचालन में अत्यन्त दक्ष माने जाते हैं। शायद दस-बीस। पर बाकी जो लाखों की फौज है, उससे तो इतनी ही आशा की जाती है कि उसमें अपने अफसरों की आज्ञा पर मरने की शक्ति हो। इसी उदाहरण के आधार पर हम एक अहिंसात्मक फौज की भी कल्पना कर सकते हैं। अहिंसात्मक फौज के जो गणनायक हों उनमें पूर्ण आत्मशुद्धि हो, जो अनुयायी हों वे श्रद्धालु हों, और चाहे उनमें इतना तीक्ष्ण विवेक न हो पर उनमें सत्य-अहिंसा के लिए मरने की शक्ति हो। इतना यदि है, तो काफी है। इस हिसाब से अहिंसात्मक फौज बिल्कुल अव्यावहारिक चीज साबित नहीं होती।

हां, यदि हमारी महत्त्वाकांक्षा साम्राज्य फैलाने की है, यदि हमारी आंखें दूसरों की सम्पत्ति पर गड़ी हैं, यदि भूखे पड़ोसियों के प्रति हमें कोई हमदर्दी नहीं है, हम अपने ही स्वार्थ में रत रहकर भोगों के पीछे पड़े हुए हैं, या अपने ही भोगों को सुरक्षित रखना चाहते हैं, तो अहिंसा के लिए कोई स्थान नहीं है।

गन्दे कपड़े की गन्दगी की यदि हम रक्षा करना चाहते हैं, तो पानी और साबुन का क्या काम? वहां तो कीचड़ की जरूरत है। गन्दगी रोग पैदा करती है, मृत्यु को समीप लाती है, इसका हमें ज्ञान है। इसलिए हम गन्दगी की रक्षा करना चाहते हैं तो हम दया के पात्र हैं। अहिंसा का पोषक हमें हमारी भूल से बचाने का प्रयत्न करेगा, पर हमारी गन्दगी का पोषण कभी नहीं करेगा, हम चाहे उसके स्वदेशवासी क्या, उसकी सन्तान ही क्यों न हों।

अहिंसा को राजनीति में गांधीजी ने जान-बूझकर प्रविष्ट किया

है, क्योंकि राजनीति में अधर्म विहित है ऐसा मानकर हम आत्मवंचना करते थे। हम उलझन में इसलिए पड़ गये हैं कि जहां हम गन्दगी का पोषण करना चाहते थे, वहां गांधीजी ने हमें पानी और साबुन दिया है। हम हैरान हैं कि पानी और साबुन से हमारी गन्दगी की रक्षा कैसे हो सकती है? और यह हैरानी सच्ची है; क्योंकि गन्दगी की रक्षा किसी हालत में न होगी। बस यही उलझन है, यही पहेली है और इसीके ज्ञान में शंका का समाधान है।

अहिंसा कहो, सत्य कहो, मोक्ष भी कहो, ये सभी वस्तुएं नहीं हैं कि सम्पूर्णतया जबतक इन चीजों की प्राप्ति न हो तबतक ये बेकार है। दरअसल जीवन में इन चीजों की सम्पूर्णतया प्राप्ति असम्भव है। इतना ही कहा जा सकता है कि अधिकस्याधिकं फलम् और स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्––इसलिए ऐसी बात नहीं है कि बन्दूक की गोली दुश्मन के शरीर पर लगी तो सफल, वरना बेकार। यहां तो हार-जैसी कोई चीज ही नहीं है। जितनी भी आत्मशुद्धि हुई, उतना ही फल।

गांधीजी सत्य और अहिंसा का उपदेश देकर प्रकारांतर से लोगों को अच्छे नागरिक बनने का उपदेश देते हैं। वह कहते हैं, "अतिशय तृष्णा त्यागो," क्योंकि स्वार्थवश किये गये अतिशय संग्रह की रक्षा अहिंसा से याने धर्म से नहीं हो सकती। यदि अधर्म से रक्षा करने का कार्यक्रम गढ़ेंगे, तो फिर अधर्म की ही वृद्धि होगी। इसलिए कहते हैं, "अतिशय तृष्णा त्यागो, पड़ोसी की सेवा करना सीखो, व्यवहार में सचाई सीखो, सहिष्णु बनो, ईश्वर में विश्वास रखो। किसीपर लोभवश आक्रमण न करो। यदि कोई दुष्टता से आक्रमण करता है, तो बिना मारे मरना सीखो। कायरता और अहिंसा एक वस्तु नहीं है। शौर्य की आत्यंतिकता का ही दूसरा नाम अहिंसा है। क्षमा बलवान ही कर सकता है, इसलिए अत्यन्त शूर बनो। अत्यन्त शूर बनने के लिए जिन गुणों की जरूरत है उनकी वृद्धि करो, और शूर बनकर क्षमा करो। यदि इतना कर पाओ

और ईश्वर में श्रद्धा है, तो निर्भय विचरो।"

गांधीजी के बाद क्या अहिंसा पनपेगी? अहिंसा को गांधीजी के जीवन के पश्चात् प्रगति मिलेगी या विगति?

बुद्ध और ईसामसीह के जीवन-काल में जितना उनके उपदेशों ने जोर नहीं पकड़ा, उससे अधिक जोर उनकी मृत्यु के बाद पकड़ा। यह सही है कि उनके जीवन के बाद उनके उपदेशों का भौतिक शरीर तो पुष्ट होता गया, पर आध्यात्मिक शरीर दुर्बल बनता गया। तो फिर क्या यह कह सकते हैं कि बुद्ध का उपदेश आज नष्ट हो गया है या ईसामसीह का तेज मिट गया है? वर्षा होती है तब सब जगह पानी-ही-पानी नजर आता है। शरद में वह सब सूख जाता है, तब क्या हम यह कहें कि वर्षा का प्रभाव नष्ट हो गया? बात तो यह है कि शरद में धान्य के खलिहानों से परिपूर्ण खेत वर्षा के माहात्म्य का ही विज्ञापन करते हैं। वर्षा का पानी खेतों की मिट्टी में अवश्य सूख गया; पर वही पानी अन्न के दानों में प्रविष्ट होकर जीवित है। खेतों में यदि पानी पड़ा रहता, तो गन्दगी फैलती; कीचड़ बदबू और विष पैदा करता। अन्न में प्रवेश करके उसने अमृत पैदा किया।

महापुरुषों के उपदेश भी इसी तरह पात्रों के हृदय में प्रवेश करके स्थायी अमृत बन जाते हैं। गेहूं के दाने से पूछिए कि वर्षा का पानी कहां है? वह बतायेगा कि वह पानी उसके शरीर में जिन्दा है। इसी तरह सत्पुरुषों के जीवन का फल भी पात्रों के हृदय में अमर है। गांधीजी का जीवन अहर्निश काम किये जा रहा है—और उनकी मृत्यु के बाद भी वह अमर रहेगा। बातों-ही-बातों में एक रोज उन्होंने कहा, "मेरी मृत्यु के बाद यदि अहिंसा का नाश होजाय, तो मान लेना चाहिए कि मुझमें अहिंसा थी ही नहीं।" यह सच्ची बात है; क्योंकि धर्म का नाश कैसे हो सकता है?

पर इस जमाने में तो हिंसा में श्रद्धा रखनेवालों की भी आंखें खुल रही हैं। पहलेपहल अबीसीनिया का पतन हुआ, पीछे धीरे-धीरे एक-के-

बाद एक मुल्क गिरते गये। पर जर्मनी ने लड़ाई छेड़ी तबसे तो बड़ी हिंसा के सामने छोटी हिंसा ऐसी निर्बल साबित हुई, जैसे फौलाद की गोली के सामने शीशे की हांडी। पोलैंड गया, फिनलैंड गया, नार्वे, बेल्जियम, हालैंड, फिर फ्रांस, सब बात-की-बात में मिट गये, और मिटने से पहले स्मशान हो गये। एक डेन्मार्क मिटा तो सही पर स्मशान नहीं हुआ।

प्रश्न उठता है कि इन देशों के लोग यदि बिना मारे मरने को तैयार होते, तो क्या उनकी स्थिति आज की स्थिति से कहीं अच्छी नहीं होती? आज तो उनका शरीर और आत्मा दोनों ही मर गये। यदि वे बिना मारे मरते, तो बहुत सम्भव है कि उनका मुल्क उनके हाथ से शायद छिन जाता पर उनकी आत्मा आज से कहीं अधिक स्वतंत्र होती और मुल्क भी शायद ही छिनता या न भी छिनता। आज तो छिन ही गया। ये लोग अहिंसा से लड़ते, तो इनकी इस अनुपम अहिंसा का जर्मनी पर सौगुना अच्छा प्रभाव पड़ता।

'अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्' यह वाक्य निरर्थक नहीं है। यह यूरोप का 'यादव-संग्राम' आखिर है क्या? बढ़े हुए लोभ का ज्वालामुखी है, जो दहकती हुई आग से यूरोप के सारे मुल्कों को भस्म कर देना चाहता है। ऐसी अग्निवर्षा में अहिंसा अवश्य ही वर्षा का काम देती। पर हर हालत में यह तो साबित हो ही गया कि हिंसा भी स्वतंत्रता की रक्षा नहीं कर सकी। बेल्जियम, फ्रांस और इंग्लैंड की सम्मिलित शक्ति बेल्जियम को नहीं बचा सकी। इसके बाद यदि कोई कहे कि "भाई, हिंसा की आजमाइश हो गई, अब अहिंसा जो अत्यन्त शौर्य का दूसरा नाम है, उसको जाग्रत करो और उससे युद्ध करना सीखो," तो उसे कौन पागल बता सकता है? क्योंकि अहिंसा का उपदेशक प्रकारान्तर से इतना ही कहता है, "पाप छोड़ो, जो चीज जिसकी है वह उसे दे दो।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्

धर्म से चलो; क्योंकि पाप खा जायगा। धर्म ही रक्षा कर सकता है। न डरो, न डराओ।"

धर्म-धारण के माने ही हैं उस स्वार्थ का संयम जो आज के भीषण संग्राम का स्रोत है। धर्म धारण करने के बाद संग्राम कहां, हिंसा कहां?

लोग कहते हैं, "पर यह क्या कोई मान सकता है!" न माने, पर क्या इसलिए यह कहना चाहिए कि पाप करो, चोरी करो, झूठ बोलो, व्यभिचार करो? ऐसे तार्किक तो गीताकार को भी कह सकते हैं कि क्या यह कोई मान सकता है?

शौर्य की परमावधि का ही दूसरा नाम अहिंसा है। कायरता का नाम अहिंसा हर्गिज नहीं है। सम्पूर्ण निर्भयता में ही अहिंसा संभव हो सकती है। और जो अत्यन्त शूर है, वही अत्यन्त निर्भय हो सकता है। असावधानी और अभय ये अलग-अलग चीजें हैं। जिसे प्रभाव के कारण या नशे में भय का ज्ञान ही नहीं, वह निर्भय क्या होगा? मगर जिसके सामने भय उपस्थित है, पर निर्भय है, वही परमशूर है, वही अहिंसावादी है।

एक हट्टे-कट्टे पिता को एक नादान बालक क्रोध में आकर चपत जमा जाता है, तो पिता को न क्रोध आता है, न बदले में चपत जमाने को उसकी हिंसा-वृत्ति जाग्रत होती है। पर वही चपत यदि एक हट्टा-कट्टा मनुष्य लगाता है, तो क्रोध भी आता है और हिंसा-वृत्ति भी जाग्रत होती है। यह इसलिए होता है कि बच्चे की चपत में तो पिता निर्भय था, पर समवयस्क की चपत ने भय का संचार किया। इस तरह हिंसा और भय का जोड़ा है। भय के आविर्भाव में हिंसा और भय के अभाव में अहिंसा है। हिटलर और चर्चिल दोनों को एक-दूसरे का डर है। शौर्य का इस दृष्टि से दोनों ओर अभाव है। दोनों ओर इसीलिए हिंसा का साम्राज्य है। शौर्य की आत्यन्तिकता में अहिंसा है; वैसे ही भय की आत्यन्तिकता में कायरता है।

एक और बात है। किसी प्राणी का हनन-मात्र ही हिंसा नहीं है। एक ऐसे पागल की कल्पना हम कर सकते हैं, जिसके हाथ एक मशीनगन पड़ गई हो और वह पागलपन में यदि जिन्दा रहने दिया जाय

तो हजारों आदमियों का खून कर डाले। ऐसे मनुष्य को मारना हिंसा नहीं कही जायगी। द्वेष रहित होकर समबुद्धि से लोक-कल्याण के लिए किया गया हनन भी हिंसा नहीं हो सकती। पोलैंड के स्वदेश-रक्षा के युद्ध के सम्बंध में लिखते समय गांधीजी ने कहा: "यदि पोलैंड में स्वार्थ-त्याग और शौर्य की आत्यन्तिकता है, तो संसार यह भूल जायगा कि पोलैंड ने हिंसा द्वारा आत्म-रक्षा की। पोलैंड की हिंसा करीब-करीब अहिंसा में ही शुमार होगी।"

पोलैंड की हिंसा करीब-करीब अहिंसा में शुमार क्यों होगी, इसका विवेचन भी गांधीजी ने पिछले दिनों कुछ जिज्ञासुओं के सामने एक मौलिक ढंग से किया। मेरा खयाल है कि वह विवेचन भी सम्पूर्ण नहीं था। और हो भी नहीं सकता था। एक ही तरह का कर्म एक समय धर्म और दूसरे समय अधर्म माना जा सकता है। एक कर्म धर्म है, इसका निर्णय तो स्वयं ही करना है; पर पोलैंड की हिंसा भी करीब-करीब अहिंसा में ही शुमार हो सकती है, यह कथन उलझन पैदा कर सकता है, पर इसमें असंगति नहीं है।

इस सारे विश्लेषण से अहिंसा का शुद्ध स्वरूप और इसकी व्यावहारिकता समझने में हमें कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

५

गांधीजी में अहिंसा-वृत्ति कब जाग्रत हुई, राजनीति में, समाज-नीति में और आपस के व्यवहार में इसका प्रयोग कैसे शुरू हुआ, इसके गुणों में श्रद्धा कब हुई, यह बताना कठिन प्रयास है। हम देखते हैं कि कितनी ही चीजें जो हमें मालूम होती हैं कि हमारे भीतर अचानक आगई वे दरअसल धीरे-धीरे ही पनपी हैं। गुणों के बीज हमारे भीतर रहते हैं जो धीरे-धीरे अंकुरित होते है, फिर पनपते है। इसी तरह दुर्गुणों की भी बात है।

हम देखते हैं कि बचपन से ही गांधीजी के चित्त पर सत्य और अहिंसा के चित्रों की एक अमिट रूप-रेखा खिच चुकी थी। अत्यन्त बचपन में गांधीजी एक मित्र की सोहबत के कारण अधर्म को धर्म मानकर, यह समझकर कि मांसाहार समाज के लिए लाभप्रद है, स्वयं भी मांस खाने लगे। उन्हें यह कार्यक्रम चुभने लगा, क्योंकि यह काम वह लुक-छिपकर करते थे। उसमें असत्य था और मांस खाना उन्हें रुचिकर भी नहीं था। पर एक बुराई से दूसरी बुराई आती है। मांस खाने के बाद तम्बाकू पर मन गया। उसके लिए पैसे चाहिएं, वे घर से चुराये। अब तो यह चीज असह्य होगई, और अन्त में उन्होंने यह तय किया कि सारी चीज पिता के सामने स्वीकार करके उनसे क्षमा याचना करनी चाहिए। न जाने पिता को कितनी चोट लगे, गांधीजी को यह भय था। पर उन्होंने सारा किस्सा पत्र में लिखकर उसे पिता के हाथ में रक्खा। पिता ने पढ़ा और फूट-फूटकर रोने लगे। गांधीजी को भी रुलाई आगई। कौन बता सकता है कि पिता के ये आंसू, चित्त को चोट पहुंची उस दुःख का नतीजा थे, या पुत्र ने सत्य का आश्रय लिया उसके आनन्दाश्रु थे? "मेरे लिए तो यह अहिंसा का पाठ था। उस समय मुझे अहिंसा का कोई ज्ञान नहीं था,

पर आज मैं जानता हूं कि यह मेरी एक शुद्ध अहिंसा थी।" पिता ने क्षमा कर दिया। गांधीजी ने इन बुरी चीजों को तलाक दिया। पिता-पुत्र दोनों का बोझ हलका हो गया।

इस घटना से गांधीजी के विचारों में क्या-क्या उथल-पुथल हुई, कोई नहीं बता सकता। पर अहिंसा का बीज, मालूम होता है, यहीं से अंकुरित हुआ। मगर गांधीजी उस समय तो निरे बच्चे थे। जब इंग्लैंड जाने लगे, तब तो सयाने हो आये थे। पिता का देहान्त हो चुका था। माता के सामने यूरोप जाने से पहले प्रतिज्ञा करली थी कि परदेश में कुछ भी कष्ट हो, मांस-मदिरा का सेवन न करूंगा। पर इतने से जात-बिरादरीवालों को कहां सन्तोष हो सकता था? उन लोगों ने इन्हें जाने से रोका। "वहां धर्म भ्रष्ट होने का भय है।" "पर मैंने तो प्रतिज्ञा करली है कि मैं अभोज्य भोजन नहीं करूंगा"—गांधीजी ने कहा। पर जातिवालों को कहां सन्तोष होता था? गांधीजी को जात-बाहर कर दिया गया।

गांधीजी इंग्लैंड गये। अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे। वापस लौटे, तब जाति-बहिष्कार सामने उपस्थित था। "पर मैंने जात में वापस दाखिल होने की न तो आकांक्षा ही की, न पंचों के प्रति मुझे द्वेष ही था। पंच मुझसे नाखुश थे, पर मैंने उनका चित्त कभी नहीं दुखाया। इतना ही नहीं, जातिवालों के बहिष्कार के सारे नियमों का मैंने सख्ती के साथ पालन किया, अर्थात् मैंने स्वयं ही जात-बिरादरी वालों के यहां खाना-पीना बंद कर दिया। मेरी ससुरालवाले और बहनोई मुझे खिलाना-पिलाना चाहते भी थे, पर लुक-छिपकर, जो मुझे नापसंद था। इसलिए मैंने इन निकटस्थों के यहां पानी पीना तक बंद कर दिया। मेरे इस व्यवहार का नतीजा यह हुआ कि हालांकि जातिवालों ने मुझे बहिष्कृत कर दिया, पर उनका मेरे प्रति प्रेम बढ़ गया। उन्होंने मेरे अन्य कार्यों में मुझे काफी सहायता पहुंचाई। मेरा यह विश्वास है कि यह शुभ फल मेरी अहिंसा का परिणाम था।"

अफ्रीका में गांधीजी ने करीब बीस साल काटे। गये थे एक साधारण काम के लिए वकील की हैसियत से, पर वहां कालों के प्रति गोरों की घृणा, उनका जोर-जुल्म इतना ज्यादा था कि गांधीजी महज सेवा के लिए वहां कुछ दिन रुक गये। फिर तो स्वदेशवासियों ने उन्हें वहां से हटने ही नहीं दिया, और एक-एक करके उनके इक्कीस साल वहां बीते। इस अरसे में उन्हें काफी लड़ना पड़ा, पर अहिंसा-शस्त्र में जो श्रद्धा वहां जमी वह अमिट बन गई। अहिंसा के बड़े पैमाने पर प्रयोग किये, उसमें सफलता मिली और जो विपक्षी थे उनका हृदय-परिवर्तन हुआ। जनरल स्मट्स, जिसके साथ उनकी लड़ाई हुई, अन्त में उनका मित्र बन गया। द्वितीय गोलमेज-परिषद् के समय जब गांधीजी लन्दन गये, तब स्मट्स वहीं था। उसने कहलाया कि यदि मेरा उपयोग होसके, तो आप मुझसे निस्संकोच काम लें। गांधीजी ने उसका साधारण उपयोग भी किया।

पर अहिंसात्मक उपायों द्वारा शत्रु मित्र के रूप में कैसे परिणत हो सकता है, इसका ज्वलंत उदाहरण गांधीजी की इक्कीस साल की अफ्रीका की तपश्चर्या ने पैदा कर दिया। गांधीजी ने अफ्रीका में सूक्ष्मतया अहिंसा का पालन किया। मार खाई, गालियां खाईं, जेल में सड़े, सब-कुछ यंत्रणाएं सहीं, पर विपक्षी पर कभी क्रोध नहीं किया, धीरज नहीं खोया, हिम्मत नहीं छोड़ी, लड़ते गये, पर क्रोध त्याग कर। अन्त में सफलता मिली ; क्योंकि 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।'

अफ्रीका में काले-गोरे का भेद इतनी गहराई तक चला गया था कि कालों को, जिनमें हिन्दुस्तानियों का भी समावेश था, पटरी पर चलने की भी मुमानियत थी। रात को अमुक समय के बाद घर से निलकने का भी निषेध था। गांधीजी को टहलने-फिरने की काफी आदत थी, समय-बेसमय घूमना भी पड़ता था। एक रोज प्रेसीडेंट क्रूगर के घर के सामने से गुजर रहे थे तो सन्तरी ने अचानक इन्हें धक्का मारकर पटरी से नीचे गिरा दिया और ऊपर से एक लात लगाई। गांधीजी चुपचाप मार खाकर

खड़े हो गये । इन्हें तनिक भी क्रोध नहीं आया । इनके एक गोरे मित्र ने, जो पास से गुजर रहा था, यह घटना देखी । उसे क्रोध आगया । उसने कहा, "गांधी, मैंने सारी घटना आंखों देखी है । तुम अदालत में इस सन्तरी पर मुकदमा चलाओ, मैं तुम्हारा गवाह बनकर तुम्हारी ताईद करूंगा । मुझे दुःख है कि तुम्हारे साथ यह दुर्व्यवहार हुआ । " गांधीजी ने कहा, "आप दुखी न हों । मेरा नियम है कि व्यक्तिगत अन्याय के प्रतिकार के लिए मै अदालत की शरण नहीं लेता । यह बेचारा मूर्ख क्या करे ? यहांकी आबहवा ही ऐसी है । मै इसपर मुकदमा नहीं चलाना चाहता ।" इसपर उस सन्तरी ने गांधीजी से क्षमा-याचना की ।

पर ऐसी तो अनेक घटनाएं हुईं । बीच में कुछ दिनों के लिए स्वदेश आकर गांधीजी अफ्रीका लौटे, तब वहांके गोरे अखबारवालों ने इनके सम्बन्ध में बहुत बढ़ा-चढ़ा कर झूठी-झूठी बातें अखबारों में लिखीं और गोरी जनता को इनके खिलाफ उभारा । जहाज पर से गांधीजी उतरनेवाले थे, उस समय गोरी जनता ने इनके खिलाफ काफी प्रदर्शन किया । पुलिस ने और कई इनके मित्रों ने इन्हें कहलाया कि उतरने में खतरा है, रात को उतरना अच्छा होगा । जहाज के कप्तान ने कहा, "यदि गोरों ने आपको पीटा, तो आप अहिंसा से उनका प्रतिरोध कैसे करेंगे ?" गांधीजी ने उत्तर दिया, "ईश्वर मुझे ऐसी बुद्धि और शक्ति देगा कि उन्हें मैं क्षमा करदूं । मुझे उनपर क्रोध नहीं आसकता, क्योंकि वे अज्ञान के शिकार हैं । उन्हें सचमुच में बुरा लगता हूं, तब वे क्या करें ? और मै उनपर क्रोध कैसे करूं ?"

गांधीजी आखिर जहाज से उतरे । इनका एक गोरा मित्र इनकी रक्षा के लिए इनके साथ हो लिया । इन्होंने पैदल घर पहुंचने का निश्चय किया, जिससे किसी तरह की कायरता साबित न हो । बस, गोरी जनता का इन्हें देखना था कि उसके क्रोध का पारा ऊंचा उठने लगा । भीड़ बढ़ने लगी । आगे बढ़ना मुश्किल हो गया । भीड़ ने इनके गोरे मित्र को पकड़कर गांधीजी से अलहदा करके एक किनारे किया और इनपर होने लगी बौछार—

पत्थर, ईंट के टुकड़ों और सड़े अंडों की। इनकी सिर की पगड़ी नोचकर फेंक दी गई। ऊपर से लात और मुक्कों के प्रहार होने लगे। गांधीजी बेहोश हो गये। फिर भी लातों का प्रहार जारी रहा। पर ईश्वर को इन्हें जिन्दा रखना था। पुलिस सुपरिन्टेंडेंट की स्त्री ने, जो पास से गुजर रही थी, इस घटना को देखा। वह भीड़ में कूद पड़ी और अपना छाता तानकर इनकी रक्षा के लिए खड़ी होगई। भीड़ सहम गई। इतने में तो पुलिस सुपरिन्टेंडेंट खुद पहुंच गया और इन्हें बचाकर ले गया। गांधीजी जिन्दा बच गये।

उभरा हुआ जोश जब शांत हुआ तब, सम्भव है, लोगों को पश्चात्ताप भी हुआ होगा। ब्रिटिश सरकार ने अफ्रीका की सरकार से कहा कि गुण्डे गोरों को पकड़कर सजा देनी चाहिए। पर गांधीजी ने कहा, "मुझे किसीसे बैर नहीं है। जब सत्य का उदय होगा तब मुझे मारनेवाले स्वयं पश्चात्ताप करेंगे। मुझे किसीको सजा नहीं दिलवानी है।" आज तो यह कल्पना भी हमारे लिए असह्य है कि गांधीजी को कोई लात-मुक्का मारे या उनको गालियां दे।

डेढ़ साल पहले की बात है। गांधीजी ने दिल्ली में श्री लक्ष्मीनारायण-जी के मन्दिर का उद्घाटन किया था। कोई एक लाख मनुष्यों की भीड़ थी। तिल रखने को भी जगह नहीं थी। बड़ी मुश्किल से गांधीजी को मन्दिर के भीतर उद्घाटन-क्रिया करने के लिए पहुंचाया गया। मन्दिर के बाहर नरमुण्ड-ही-नरमुण्ड दिखाई देते थे। वृक्षों की हरी डालियां भी मनुष्यों से लदी पड़ी थीं। भीड़ गांधीजी के दर्शन के लिए आतुर थी। गांधीजी ने मन्दिर के छज्जे पर खड़े होकर लोगों को दर्शन दिये। एकपल पहले ही भीड़ बुरी तरह कोलाहल कर रही थी। पर जहां गांधीजी छज्जे पर आये—हाथ जोड़े हुए, बिलकुल मौन—वहां भीड़ का सारा कोलाहल बन्द होगया और सहस्रों कण्ठों से केवल एक ही आवाज, एक ही स्वर गगन को भेदता हुआ चला गया—"महात्मा गांधी की जय!"

यह दृश्य विचारपूर्वक देखनेवाले को गद्गद कर देता था। मेरी घिग्घी बंध गई। मैं विचार के प्रवाह में बहा जारहा था। सोचता था कि यह कैसा मनुष्य है! छोटा-सा शरीर, अर्द्धनग्न, जिसने इतने लोगों को मोहित कर दिया, जिसने इतने लोगों को पागल कर दिया! उस भीड़ में शायद दस मनुष्य भी ऐसे न होंगे, जिन्होंने गांधीजी से कभी बात भी की हो। पर तो भी उनके दर्शनमात्र से सब-के-सब जैसे पागल होगये। वृक्षों की डालियों पर हजारों मनुष्य लदे थे, जिन्हें अपनी सुरक्षितता का भी भान नहीं था। वे भी केवल "महात्मा गांधी की जय" बस इसी चिल्लाहट में मग्न थे।

एक वृक्ष की डाल टूटी। उसपर पचासों मनुष्य लदे थे। डाल कड़कड़ाती हुई नीचे की ओर गिरने लगी। पर ऊपर चढ़े लोग तो "महात्मा गांधी की जय" की बुलन्द आवाज में मस्त थे। किसीको अपनी जोखिम का खयाल न था। डाल नीचे जा गिरी। किसीको चोट न आई। एक यह दृश्य था जिसमें "गांधीजी की जय" चिल्लानेवाले गांधीजी के पीछे पागल थे। उनके एक-एक रोम के लिए वह भीड़ अपना प्राण न्यौछावर करने को तैयार थी। और एक वह दृश्य था, जिसमें गोरी भीड़ "गांधी को मार डालो" इस नारे के पीछे पागल थी!

गांधीजी द्वितीय गोलमेज-परिषद के लिए जब गये, तो वहां करीब साढ़े तीन महीने रहे। जहां भी गये वहां भीड़ इनपर मोहित थी, प्रेम से मुग्ध थी। आज यदि यह अफ्रीका भी जायें तो इनके प्रेम के पीछे वहांकी गोरी जनता भी पागल होजाय। यह सब पागलपन इसलिए है कि गांधीजी ने मार खाकर, लातें खाकर भी क्षमा-धर्म को नहीं छोड़ा। अफ्रीका की गोरी भीड़ के पागलपन का वह दृश्य हमारी आंखों के सामने आने पर हमें चाहे क्रोध आजाय; पर वही दृश्य था, वही घटना थी, और ऐसी अनेक घटनाएं थीं, जिन्होंने आज के गांधी को जन्म दिया। ईसामसीह सूली पर न चढ़ता, तो उसकी महानता प्रकट न होती। गांधीजी ने यदि शांतिपूर्वक लातें न खाई होतीं, तो उनकी क्षमा कसौटी पर

सफल न होती ।

गांधीजी महात्मा हैं, क्योंकि उन्होंने मारनेवालों के प्रति भी प्रेम किया । "मेरी इस वृत्ति ने जिन-जिनके समागम में मैं आया उनसे मेरी मैत्री करा दी । मुझे अक्सर सरकारी महकमों से झगड़ना पड़ता था, उनके प्रति सख्त भाषा का प्रयोग भी करना पड़ता था; पर फिर भी उन महकमों के अफसर मुझसे सदा प्रसन्न रहते थे । मुझे उस समय यह पता भी न था कि मेरी यह वृत्ति मेरा स्वभाव ही बन गई है । मैंने पीछे यह जाना कि सत्याग्रह का यह अंग है और अहिंसा का यह धर्म है कि हम यह जानें कि मनुष्य और उसके कर्म ये दो भिन्न-भिन्न चीजें हैं । जहां बुरे काम की हमें निन्दा और अच्छे की प्रशंसा करनी चाहिए, वहां बुरे मनुष्य के साथ हमें दया का और भले के साथ आदर का बर्ताव करना चाहिए । 'पाप से घृणा करो, पापी से नहीं' यह मन्त्र बहुतों की समझ में तो आजाता है; पर व्यवहार में बहुत कम लोग इसके अभ्यस्त हैं । यही कारण है कि संसार में बैर का विष-वृक्ष इतनी सफलता से पनपता है ।

"अहिंसा सत्य की बुनियाद है । मेरा यह विश्वास दिन-पर-दिन बढ़ता जाता है कि यदि वह अहिंसा की भित्ति पर नहीं है तो, सत्य का पालन असंभव है । दुष्ट प्रणाली पर हमें आक्रमण करना चाहिए, उससे टक्कर लेनी चाहिए । पर उस प्रणाली के प्रणेता से बैर करना, यह आत्म-बैर सरीखा है । हम सब-के-सब एक ही प्रभु की संतान हैं । हमारे सबके भीतर एक ही ईश्वर व्याप्त है; धर्मात्मा के भीतर और पापी के भीतर भी । इसलिए एक भी जीव को कष्ट पहुंचाना मानो ईश्वर का अपमान और सारी सृष्टि को कष्ट पहुंचाने-जैसी बात है ।"

ये शब्द उस व्यक्ति के हैं, जिसने श्रद्धा के साथ अहिंसा का सेवन किया है ।

> काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
> महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ।।

गीता में काम एवं क्रोध को दुश्मन बताया है और कहा है कि इन्हें बैरी समझो। पर यह बुराई के लिए घृणा है, न कि बुरे के लिए। बुरे के लिए तो दूसरा आदेश है—

मैत्रीकरुणा मुदितोपेक्षाणां, सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां
भावनाश्चित्तप्रसादनम्।

(पा. यो. द.)

बुरे अर्थात् पापी के लिए करुणा और उपेक्षा का आदेश है।

Rosalind Yuping Wong

黃玉華

[चीनी चित्रकार द्वारा

६
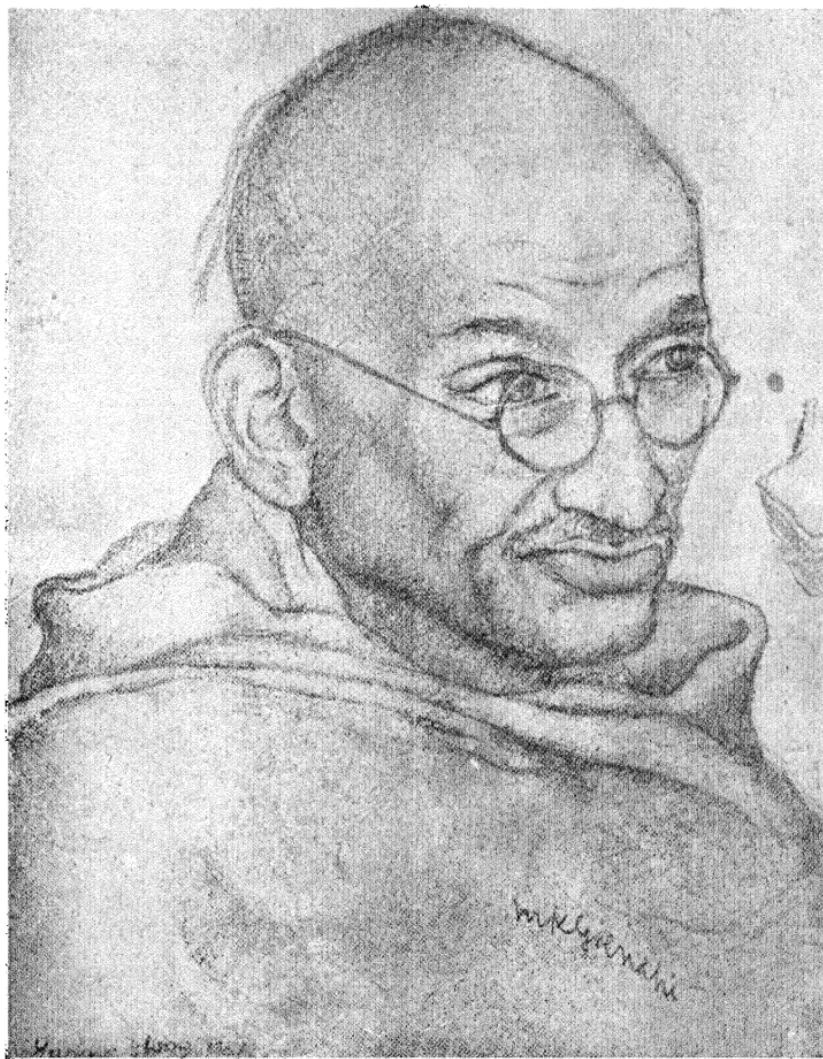
गांधीजी ने अफ्रीका में जो आश्रम बसाया था, उसका नाम रक्खा था 'टाल्स्टॉय फार्म'। फिर स्वदेश लौटने पर साबरमती में सत्याग्रह-आश्रम बसाया और अब सेवाग्राम में आश्रम बनाकर रहते हैं। कुछ संयोग की बात है कि इन सभी आश्रमों में सांप-बिच्छुओं का बड़ा उपद्रव रहा है। गांधीजी स्वयं सर्प को भी नहीं मारते। उन्होंने सर्प मारने का निषेध नहीं कर रक्खा है; पर चूंकि गांधीजी सर्प की हत्या नहीं करते, इसलिए और आश्रमवासी भी इस काम से परहेज ही करते हैं।

सेवाग्राम में एक बार रात को एक बहन का पांव बिच्छू पर पड़ा कि बिच्छू ने बड़े जोर से डंक मारा। रातभर वह बहन दर्द के मारे परेशान रही। न अफ्रीका में, न हिन्दुस्तान में—आजतक आश्रम में सर्प ने किसीको नहीं काटा है। पर सर्प आये दिन पांव के सामने आजाते हैं और आश्रमवासी उन्हें पकड़कर दूर फेंक आते हैं। बिच्छू तो कई मर्तबा आश्रम-वासियों को डंक मार चुके। एक दिन महादेवभाई ने कहा, "बापू, आप सर्प नहीं मारने देते, इसलिए आपको कभी बहुत पछताना पड़ेगा। आये दिन सांप आश्रमवासियों के पांवों में लोटते हैं। अबतक किसीको नहीं काटा, पर यदि कोई दुर्घटना हुई और कोई मर गया तो आप कभी अपनेआपको संतोष न दे सकेंगे।" "पर, महादेव," गांधीजी ने कहा, "मैंने कब किसीको मारने से मना किया है? यह सही है कि मैं नहीं मारता; क्योंकि मुझे आत्मरक्षा के लिए भी सांप को मारना रुचिकर नहीं है। पर अन्य किसीको मैं जोखिम में नहीं डालना चाहता। इसलिए लोगों को मारना हो, तो अवश्य मारें।" पर कौन मारे? गांधीजी नहीं मारते, तो फिर दूसरा कौन मारे?

"हमारे किसी आश्रम में अबतक ईश्वर-कृपा से किसीको सांप ने

नहीं काटा। सभी जगह सांपों की भरमार रही है तथापि एक भी दुर्घटना नहीं हुई। मैं इसमें केवल ईश्वर का ही हाथ देखता हूं। कोई यह तर्क न करे कि क्या ईश्वर को आपके आश्रमवासियों से कोई खास मुहब्बत है, जो आपके नीरस कामों में इतनी माथा-पच्ची करता होगा? तर्क करनेवाले ऐसे तर्क किया करें; पर मेरे पास इस इकरंगे अनुभव की व्याख्या करने के लिए सिवाय इसके कि यह ईश्वर का हाथ है, और कोई शब्द नहीं है। मनुष्य की भाषा ईश्वर की लीला को क्या समझा सकती है? ईश्वर की माया तो अवाच्य और अगम्य है। पर यदि मनुष्य साहस करके समझाये, तो भी आखिर उसे अपनी अस्पष्ट भाषा ही की तो शरण लेनी पड़ती है। इसलिए कोई चाहे मुझे यह कहे कि आपके आश्रमों में यदि सांप से डसा जाकर अबतक न मरा तो यह महज अकस्मात था, इसे ईश्वर की कृपा कहना एक वहम है, पर मैं तो इस वहम से ही चिपटा रहूंगा।"

इस तरह गांधीजी की अहिंसा अग्नि-परीक्षा में सफल होकर सान पर चढ़ी है।

७

"अहिंसा सत्य की बुनियाद है।" प्रायः गांधीजी जब-जब अहिंसा की बात करते हैं तब-तब ऐसा कहते हैं और सत्य पर जोर देते हैं। हमारे यहां आपद्धर्म के लिए कई अपवाद शास्त्रों में विहित माने गये हैं। प्राचीनकाल में जब बारह साल का घोर दुर्भिक्ष पड़ा, तब विश्वामित्र भूख से व्याकुल होकर जहां-तहां खाद्य पदार्थ ढूंढ़ने निकले। जब कहीं भी उन्हें कुछ खाने को नहीं मिला, तो एक चाण्डाल-बस्ती में पहुंचे और रात को एक चाण्डाल के यहां से कुत्ते का मांस चुराने का निश्चय किया। पर चोरी करते समय उस चाण्डाल की आंख खुल गई और उसने ऋषि से कहा, "आप यह अधर्म क्यों कर रहे हैं?" विश्वामित्र की तो दलील यही थी कि आपद्काल में ब्राह्मण के लिए चोरी भी विहित है।

आपत्सु विहितं स्तैन्यं विशिष्टं च महीयसः।
विप्रेण प्राणरक्षार्थं कर्त्तव्यमिति निश्चयः॥

चाण्डाल ने उन्हें काफी धर्मोपदेश दिया। उन्हें समझाया कि आप पाप कर रहे हैं। अन्त में विश्वामित्र उपदेश सुनते-सुनते ऊब गये। कहने लगे कि "मेंढकों की टर्राहट से गाय सरोवर में जल पीने से विरत नहीं होती। तू धर्मोपदेश देने का अधिकारी नहीं है, इसलिए क्यों वृथा बकवाद करता है?

पिबन्त्येवोदकं गावो मण्डूकेषु रुदत्स्वपि।
न तेऽधिकारो धर्मेऽस्ति मा भूरात्मप्रशंसकः॥

और क्या मैं धर्म नहीं जानता? यदि जिन्दा रहा तो फिर धर्म-साधन हो ही जायगा, पर शरीर न रहा तो फिर धर्म कहां? इसलिए इस समय प्राण बचाना ही धर्म है।"

गांधीजी ने इस तरह का तर्क कभी नहीं किया। न उन्हें तर्क पसंद है।

कुछ काम उन्होंने आत्मा के विरुद्ध किये हैं। जैसे, उन्होंने दूध न पीने का व्रत लिया था। व्रत की बुनियाद में कई तरह के विचार थे। दूध ब्रह्मचारी के लिए उपयुक्त भोजन नहीं है, यह भी उनका मानना था, यद्यपि हमारे प्राचीन शास्त्रों से यह बात सिद्ध नहीं होती। पर जब व्रत लिया, तब गायों पर फूंके की प्रथा का अत्याचार, जो कलकत्ते में ग्वालों द्वारा प्रचलित था, उनकी आंख के सामने था। व्रत ले लिया। कई सालों तक चला। अन्त में अचानक रोग ने आ घेरा। सबने समझाया कि दूध लेना चाहिए। गांधीजी इन्कार करते गये। गोखले ने समझाया, अन्य डाक्टरों ने कहा, पर किसीकी न चली। फिर दूसरी बीमारी का आक्रमण हुआ। वह ज्यादा खतरनाक थी। पर दूध के बारे में वही पुराना हठ जारी रहा। एक रोज बा ने कहा, "आपने प्रतिज्ञा ली तब आपके सामने गाय और भैंस के दूध का ही प्रश्न था, बकरी का तो नहीं था। आप बकरी का दूध क्यों न लें ?" गांधीजी ने बा की यह बात मानकर बकरी का दूध लिया, और तबसे बकरी का ही दूध लेते हैं। पर गांधीजी को यह शंका है कि उन्होंने बकरी का दूध लेकर भी व्रत-भंग का दोष किया या नहीं।

असल में तो गांधीजी की आदत है कि जो प्रतिज्ञा या व्रत लिया, उसका अधिक-से-अधिक व्यापक अर्थ करना और उसपर अटल रहना। यदि किया हुआ काम अनीतियुक्त मालूम हुआ, तो चट उस मार्ग से बिना किसीके आग्रह किये हट जाते हैं। पर जबतक उन्हें अपना मार्ग अनीतियुक्त नहीं लगता, तबतक छोटी-छोटी चीजों में भी वह परिवर्तन नहीं करते। घूमने जाते हैं तो उसी रास्ते से। सोने का स्थान वही, खाने का स्थान वही, बर्तन वही, चीजें वही। मैंने देखा है कि दिल्ली आते हैं तो आती बार निजामुद्दीन स्टेशन पर उतरते हैं और जाती बार बड़े स्टेशन पर गाड़ी में सवार होते हैं। मेरे यहां ठहरते हैं तो उसी कमरे में, जिसमें बार-बार ठहरते आये हैं। मोटर बदलना भी नापसन्द है। किसी भी आदत को ख्वाहमख्वाह नहीं बदलते। छोटी चीजों में भी एक तरह की पकड़ है।

"सत्य मेरा सर्वोत्तम धर्म है, जिसमें सारे धर्म समा जाते हैं। सत्य के माने केवल वाणी का सत्य नहीं है, बल्कि विचार में भी सत्य। मिश्रित सत्य नहीं, पर वह नित्य, शुद्ध, सनातन और अपरिवर्तनशील सत्य, जो ईश्वर है। ईश्वर की तरह-तरह की व्याख्याएं हैं, क्योंकि उसके अनेक स्वरूप हैं। इन व्याख्याओं को सुनकर मैं आश्चर्यचकित हो जाता हूं और स्तब्ध भी हो जाता हूं। पर मैं ईश्वर को सत्यावतार के रूप में पूजता हूं। मैंने उसे प्राप्त नहीं किया है। पर उसकी मैं खोज में हूं। इस खोज में मैं फना होने को भी तैयार हूं। पर जबतक मैं शुद्ध सत्य नहीं पा लेता तबतक उस सत्य का, जिसको मैंने सत्य माना है, अनुसरण करता हूं। इस सत्य की गली संकरी है और उस्तरे की धार की तरह पैनी है। पर मेरे लिए यह सुगम है। चूंकि मैंने सत्य-मार्ग को नहीं छोड़ा, इसलिए मेरी हिमालय जितनी बड़ी भूलें भी मुझे परेशानी में नहीं डालतीं।"

मालूम होता है कि सत्य, अहिंसा और ईश्वर में श्रद्धा, इन तीनों चीजों के अंकुर उनके हृदय में बचपन से ही थे। कौन बता सकता है कि कौन-सी चीज उनको पहले मिली? पूर्वजन्म के बीज तो साथ ही आये थे, पर मालूम होता है कि इस जन्म में सत्य सबसे पहले अंकुरित हुआ। "बचपन में ही," वह कहते हैं, "एक चीज ने मेरे दिल में गहरी जड़ करली है। वह यह कि धर्म सब चीजों का मूल है। इसलिए सत्य मेरा परम लक्ष्य बन गया। इसका आकार ज्यों-ज्यों मेरे दिल में घर करता गया, त्यों-त्यों इसकी व्याख्या भी विस्तृत होती गई।"

गांधीजी बचपन में बड़ी लज्जाशील प्रकृति के थे। दस-बीस दोस्तों के बीच भी उनका मुंह नहीं खुलता था, और सार्वजनिक सभा में तो उनकी जबान एक तरह से बंद हो जाती थी। लन्दन में जब वह विद्याध्ययन में लगे थे तब छोटी-छोटी सभाओं में खड़े होकर बोलने का मौका आया तो जबान ने उनका साथ न दिया। लोगों ने इनकी शर्मीली प्रकृति का मजाक उड़ाया। इन्हें भी इसमें अपमान लगा; पर यह चीज जवानी तक बनी रही। बैरिस्टर बनकर भारत लौटने पर भी यह कमी बनी रही।

बम्बई की अदालत में एक मुकदमे की पैरवी करने के लिए खड़े हुए तो घिग्घी बंध गई। मवक्किल को कागज वापस लौटाकर इन्होंने अपने घर का रास्ता नापा।

यह शर्माऊ प्रकृति क्यों थी? आज गांधीजी की जबान धारा-प्रवाह चलती है। पर उस धाराप्रवाह में एक शब्द भी निरर्थक नहीं आता। क्या वह शर्माऊ प्रकृति सत्य का दूसरा नाम था? क्या उनकी हिचकिचाहट इस बात की द्योतक थी कि वह बोलों को तौल-तौलकर निकालना चाहते थे, और क्या इस शर्माऊ प्रकृति ने सत्य की जड़ को नहीं पोसा? "सिवा इसके कि मेरे शर्माऊपन के कारण मैं बाज-बाज लोगों के मजाक का शिकार बन जाता था, मेरी इस प्रकृति से मुझे कभी हानि नहीं हुई। उलटा मेरा तो खयाल है कि इससे मुझे लाभ ही हुआ। सबसे बड़ा लाभ तो मुझे यह हुआ कि मैं शब्दों की किफायत करना सीख गया। स्वभावतः मेरे विचारों पर एक तरह का अंकुश आगया और अब मैं यह कह सकता हूं कि शायद ही कोई विचारहीन शब्द मेरी जबान या कलम से निकलते हं। मुझे ऐसा स्मरण नहीं कि जो कुछ मैंने कभी कहा या लिखा उसके लिए मुझे पश्चात्ताप करना पड़ा हो। अनुभव ने मुझे यह बताया कि मौन, सत्य के पुजारी लिए, आत्मनिग्रह का एक जबरदस्त साधम है। अति-शयोक्ति या सत्य को दबाने या विकृत करने की प्रवृत्ति मनुष्य में अक्सर पाई जाती है। मौन एक ऐसा शस्त्र है, जो इन कमजोर आदतों का छेदन करता है। जो कम बोलता है, वह हर शब्द को तौल-तौलकर कहता है और इसलिए विचारहीन वाणी का कभी प्रयोग नहीं करता। मेरी इस लज्जाशील प्रकृति ने मेरी सत्य की खोज में मुझे अत्यन्त सहायता दी है।"

भगवान जिसके सिरपर हाथ रखते हैं, उसके दूषण भी उसके लिए भूषण बन जाते हैं। शिव ने विषपान करके संसार का भला किया। इसके कारण उनका कण्ठ नीला पड़ गया। पर उसने शिव के सौन्दर्य को और भी बढ़ा दिया और शंकर नीलकण्ठ कहलाये। गांधीजी की लज्जाशील

प्रकृति ने, मालूम होता है, उनके लिए कई अच्छी चीजें पैदा करदीं—शब्दों की किफायतसारी और तौल-तौलकर शब्दों का प्रयोग।

सत्य में गांधीजी की इतनी श्रद्धा जम गई थी कि वह उनका एक स्वभाव-सा बन गया। सत्य के लाभ को वह युवावस्था में ही हृदयंगम कर चुके थे। जब लन्दन गये, तब अभोज्य भोजन और ब्रह्मचर्य के विषय में माता के सामने प्रतिज्ञा करके गये थे। चूंकि सत्य पर वह दृढ़ थे, उन्हें इस प्रतिज्ञा को निबाहने में कोई परिश्रम नहीं करना पड़ा। लक्ष्य के प्रति उनकी श्रद्धा ने उन्हें गड्ढों में गिरने से बचा लिया।

८

"ईश्वर के अनेक रूप हैं, पर मैं उसी रूप का पुजारी हूं जो सत्य का अवतार है—वह नित्य, सनातन और अपरिवर्तनशील सत्य है, जो ईश्वर है।" हमारे पुराणों में कई जगह कहा है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये एक ही ईश्वर के तीन रूप हैं। यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होता है कि गांधीजी की अहिंसा, सत्य और ईश्वर ये एक ही वस्तु हैं। रामनाम के माहात्म्य को गांधीजी ने पीछे पहचाना, पर इसमें श्रद्धा पहले हुई।

कहते हैं कि गांधीजी को बचपन में भूत का डर लगता था, इसलिए यह समय-कुसमय अंधेरे में जाने से डरते थे। पर इनकी नौकरानी रंभा ने इन्हें बताया कि रामनाम की ऐसी शक्ति है कि उसके उच्चारण से भूत भागता है। बालक गांधी को यह एक नया शस्त्र मिला और उसमें श्रद्धा जमती गई। पहले जो श्रद्धा अंधी थी, ज्ञानविहीन थी, वह धीरे-धीरे ज्ञानवती होने लगी और बाद में उस श्रद्धा के पीछे अनुभव भी जमा होने लगा।

मैंने देखा है कि गांधीजी जब उठते हैं, बैठते हैं, जंभाई लेते हैं या अंगड़ाई लेते हैं, तो लम्बी सांस लेकर "हे राम, हे राम" ऐसा उच्चारण करते हैं। मैंने ध्यानपूर्वक अवलोकन किया है कि इनके "हे राम, हे राम" में कुछ आह होती है, कुछ करुणा होती है, कुछ थकान होती है। मैंने मन-ही-मन सोचा है कि क्या वह यह कहते होंगे, "हे राम, अब बुड्ढे को क्यों तेली के बैल की तरह जोत रक्खा है? जो करना हो सो शीघ्र करो। जिस काम के लिए मुझे भेजा है उसकी पूर्णाहुति में विलम्ब क्यों?"

जयपुर के महाराज प्रतापसिंह कवि थे। अपनी बीमारी के असह्य दुःख को जब बर्दाश्त न कर सके, तब उन्होंने ईश्वर को उलाहना

बेते हुए गाया—

ग्वालीड़ा, थें काईं जाणो रे पीड़ पराई ।
थारे हाथ लकुटिया, कांधे कमलिया, थें बन-बन धेनु चराई ॥

पर गांधीजी के सम्बन्ध में शायद ऐसा न होगा । क्योंकि गांधीजी में धीरज है । वह जानते हैं, ईश्वर की उनपर अत्यन्त अनुकंपा है । उन्हें ईश्वर में विश्वास है । यश-अपयश और हानि-लाभ की चिंता उन्होंने भगवान के चरणों में समर्पण करदी है, इसलिए उन्हें अधैर्य नहीं है, उन्हें असंतोष नहीं है । पर तो भी उनका करुणामय 'हे राम, हे राम' कुछ द्रौपदी की पुकार या गज के आर्त्तनाद की-सी कल्पना कराता है ।

कुछ वर्षों पहले की बात है, एक सज्जन ने, जो भक्त माने जाते हैं, गांधीजी को लिखा, "मुझे रात को एक स्वप्न आया । स्वप्न में मैंने श्रीकृष्ण को देखा । श्रीकृष्ण ने मुझसे कहा, 'गांधी से कहो कि अब उसका अन्त नजदीक आगया है, इसलिए उसे चाहिए कि वह सारे काम-धाम छोड़कर केवल ईश्वर-भजन में ही लगे ।'" गांधीजी ने उस मित्र को लिखा, "भाई, मैं तो एक पल के लिए भी ईश्वर-भजन को नहीं बिसारता । पर मेरे लिए लोक-सेवा ही ईश्वर-भजन है । दूसरी बात, समय नजदीक आगया है, क्या इसीलिए हम ईश्वर-भजन करें ? मैं तो यह मानता हूं कि हमारी गर्दन हम जन्मते हैं उसी दिन से यमराज के हाथ में है । फिर ईश्वर-भजन करने के लिए हम बुढ़ापेतक क्यों ठहरें ? ईश्वर-भजन तो हर अवस्था में हमें करना चाहिए ।"

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥

ईश्वर में उनकी श्रद्धा इस जोर के साथ जम गई है कि हर चीज में वह ईश्वर की ही कृति देखते हैं । आश्रमों में सांपों ने किसीको नहीं काटा, यह ईश्वरीय चमत्कार । छोटी-मोटी कोई घटना होती है, तो वह कहते हैं—"इसमें ईश्वर का हाथ है ।"

गांधी-अरविन समझौते के बाद वाइसराय के मकान से आते ही

उन्होंने पत्र-प्रतिनिधियों को एक लम्बा बयान दिया, जो उस समय एक अत्यन्त महत्त्व का वक्तव्य समझा गया था। वक्तव्य देने से पहले उन्हें खयाल भी न था कि क्या कहना उचित होगा। पर ज्यों ही बोलना शुरू किया कि जिह्वा धाराप्रवाह चलने लगी, मानो सरस्वती वाणी पर बैठी हो। इसी तरह गोलमेज-परिषद् में उनका पहला व्याख्यान महत्त्वपूर्ण व्याख्यानों में से एक था। उस व्याख्यान के देने से पहले भी उन्होंने कोई सोच-विचार नहीं किया था। वैसे तो उनके लिए यह साधारण घटना थी, पर दोनों घटनाओं के पश्चात् जब मैंने कहा, "आपका यह वक्तव्य अनुपम था, आपका यह व्याख्यान अद्वितीय था।"—तो उन्होंने कहा, "इसमें ईश्वर का हाथ था।"

हम लोग भी, यदि हमसे कोई कहे कि आपका अमुक काम अच्छा हुआ तो, शायद यह कहेंगे, "हां, आपकी दया से अच्छा हुआ" या "ईश्वर का अनुग्रह था।" पर हम लोग जब ईश्वर के अनुग्रह की बात करते हैं, तब एक तरह से वह सौजन्य या शिष्टाचार की बात होती है। किन्तु गांधीजी जब यह कहते हैं कि 'इसमें ईश्वर का हाथ था', तब दरअसल वह इसी तरह महसूस भी करते हैं। उनकी श्रद्धा एक चीज है, केवल शिष्टाचार या सौजन्य की वस्तु नहीं।

एक इनका प्रिय साथी है, जो दुश्चरित्र है। उसको यह अपने घर में रखते थे। यह अफ्रीका की घटना है। यद्यपि वह साथी चरित्रहीन था, पर उसपर निश्शंक होकर गांधीजी विश्वास करते थे। उसकी कुछ त्रुटियों का इन्हें ज्ञान था, पर इन्हें यह विश्वास था कि वह इनकी संगति से सुधर जायगा। एक रोज इनका नौकर दफ्तर में पहुंचता है और कहता है कि जरा आप घर चलकर देखें कि आपका विश्वासपात्र साथी आपको कैसे धोखा दे रहा है। गांधीजी घर आते हैं और देखते हैं कि उस विश्वास-पात्र साथी ने एक वेश्या को घर पर बुला रक्खा है! इन्हें सदमा पहुंचता है। उस साथी को घर से हटाते हैं। उसके प्रति इन्हें प्रेम था। उसका सुधार करने के लिए ही उसे पास टिका रक्खा था। इनके लिए यह भी एक

कर्त्तव्य का प्रयोग था। पर इसका जिक्र करते समय यही कहते हैं, "ईश्वर ने मुझे बचा लिया है। मेरा उद्देश्य शुद्ध था, इसलिए भगवान ने मुझे भविष्य के लिए चेतावनी देकर सावधान कर दिया और भूलों से बचा लिया।" यह सारा किस्सा इनके अन्धविश्वास और भूल साबित होने पर झट अपनी भूल सुधार लेने की वृत्ति का एक सजीव उदाहरण है।

एक घटना मणिलाल भाई के, जो इनके द्वितीय पुत्र हैं, कालज्वर से आक्रांत होजाने की है, जिसे मैं नीचे गांधीजी के शब्दों में ही उद्धृत करता हूं---

"मेरा दूसरा लड़का बीमार हो गया। कालज्वर ने उसे घेर लिया था। बुखार उतरता नहीं था। घबराहट तो थी ही; पर रात को सन्निपात के लक्षण भी दिखाई देने लगे। इस व्याधि से पहले, बचपन में, उसे शीतला भी खूब निकल चुकी थी।

डाक्टर की सलाह ली। डाक्टर ने कहा---इसके लिए दवा का उपयोग नहीं हो सकता; अब तो इसे अंडे और मुर्गी का शोरबा देने की जरूरत है।

मणिलाल की उम्र दस साल की थी, उससे तो क्या पूछना था? जिम्मेदार तो मैं ही था, मुझे ही निर्णय करना था। डाक्टर एक भले पारसी सज्जन थे। मैंने कहा---डाक्टर, हम सब तो अन्नाहारी हैं। मेरा विचार तो लड़के को इन दोनों में से एक भी वस्तु देने का नहीं है। दूसरी वस्तु न बतलायेंगे?

डाक्टर बोले---तुम्हारे लड़के की जान खतरे में है। दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता है; पर उससे पूरा संतोष नहीं हो सकता। तुम जानते हो कि मैं तो बहुत-से हिन्दू-परिवारों में जाया करता हूं; पर दवा के लिए तो हम जो चाहते हैं वही चीज उन्हें देते हैं, और वे उसे लेते भी हैं। मैं समझता हूं कि तुम भी अपने लड़के के साथ ऐसी सख्ती न करो तो अच्छा होगा।

'आप जो कहते हैं वह तो ठीक है। और आपको ऐसा करना ही चाहिए;

पर मेरी जिम्मेदारी बहुत बड़ी है। यदि लड़का बड़ा होता, तो जरूर उसकी इच्छा जानने का प्रयत्न भी करता और जो वह चाहता वही उसे करने देता; पर यहां तो इसके लिए मुझे ही विचार करना पड़ रहा है। मैं तो समझता हूं कि मनुष्य के धर्म की कसौटी ऐसे ही समय होती है। चाहे ठीक हो या गलत, मैंने तो इसको धर्म माना है कि मनुष्य को मांसादि न खाना चाहिए। जीवन के साधनों की भी सीमा होती है। जीने के लिए भी अमुक वस्तुओं को हमें नहीं ग्रहण करना चाहिए। मेरे धर्म की मर्यादा मुझे और मेरे स्वजनों को भी ऐसे समय पर मांस इत्यादि का प्रयोग करने से रोकती है। इसलिए आप जिस खतरे को देखते हैं मुझे उसे उठाना ही चाहिए। पर आपसे मैं एक बात चाहता हूं। आपका इलाज तो मैं नहीं करूंगा; पर मुझे इस बालक की नाड़ी और हृदय को देखना नहीं आता है। जल-चिकित्सा की मुझे थोड़ी जानकारी है। उपचारों को मैं करना चाहता हूं; परन्तु जो आप नियम से मणिलाल की तबीयत देखने को आते रहें और उसके शरीर में होनेवाले फेरफारों से मुझे अभिज्ञ कराते रहें, तो मैं आपका उपकार मानूंगा।'

सज्जन डाक्टर मेरी कठिनाइयों को समझ गये और मेरी इच्छानुसार उन्होंने मणिलाल को देखने के लिए आना मंजूर कर लिया।

यद्यपि मणिलाल अपनी राय कायम करने लायक नहीं था, तो भी डाक्टर के साथ जो मेरी बातचीत हुई थी वह मैंने उसे सुनाई और अपने विचार प्रकट करने को कहा।

'आप सुखपूर्वक जल-चिकित्सा कीजिए। मैं शोरबा नहीं पीऊंगा, और न अंडे ही खाऊंगा।' उसके इन वाक्यों से मैं प्रसन्न हो गया, यद्यपि मैं जानता था कि अगर मैं उसे दोनों चीजें खाने को कहता तो वह खा भी लेता।

मैं कूने के उपचारों को जानता था, उनका उपयोग भी किया था। बीमारी में उपवास का स्थान बड़ा है, यह मैं जानता था। कूने की पद्धति के अनुसार मैंने मणिलाल को कटिस्नान कराना शुरू किया। तीन मिनट

से ज्यादा उसे मैं टब में नहीं रखता। तीन दिन तो सिर्फ नारंगी के रस में पानी मिलाकर देता रहा और उसीपर रक्खा।

बुखार दूर नहीं होता था और रात को वह कुछ-कुछ बड़बड़ाता था। बुखार १०४ डिग्री तक होजाता था। मैं चकराया। यदि बालक को खो बैठा तो जगत में लोग मुझे क्या कहेंगे? बड़े भाई क्या कहेंगे? दूसरे डाक्टर को क्यों न बुलाया जाय? क्यों न बुलाऊं? मां-बाप को अपनी अधूरी अक्ल आजमाने का क्या हक है?

ऐसे विचार उठते। पर ये विचार भी उठते—'जीव! जो तू अपने लिए करता है, वही लड़के के लिए भी कर। इससे परमेश्वर संतोष मानेंगे। मुझे जल-चिकित्सा पर श्रद्धा है, दवा पर नहीं। डाक्टर जीवन-दान तो देते नहीं। उनके भी तो आखिर में प्रयोग ही न हैं? जीवन की डोरी तो एकमात्र ईश्वर के हाथ में है। ईश्वर का नाम ले और उसपर श्रद्धा रख। अपने मार्ग को न छोड़।'

मन में इस तरह उथल-पुथल मचती रही। रात हुई। मैं मणिलाल को अपने पास लेकर सोया हुआ था। मैंने निश्चय किया कि उसे भीगी चादर की पट्टी में रक्खा जाय। मैं उठा, कपड़ा लिया, ठंडे पानी में उसे डुबोया और निचोड़कर उसमें पैर से लेकर सिरतक उसे लपेट दिया और ऊपर से दो कम्बल ओढ़ा दिये; सिर पर भीगा हुआ तौलिया भी रख दिया। शरीर तवे की तरह तप रहा था, पसीना तो आता ही न था।

मैं खूब थक गया था। मणिलाल को उसकी मां को सौंपकर मैं आध घण्टे के लिए खुली हवा में ताजगी और शान्ति प्राप्त करने के इरादे से चौपाटी की तरफ चला गया। रात के दस बजे होंगे। मनुष्यों की आमद-रफ्त कम हो गई थी; पर मुझे इसका खयाल न था! विचार-सागर में गोते लगा रहा था—'हे ईश्वर! इस धर्म-संकट में तू मेरी लाज रखना।' मुंह से 'राम-राम' की रटन तो चल ही रही थी। कुछ देर के बाद मैं वापस लौटा! मेरा कलेजा धड़क रहा था। घर में घुसते ही मणिलाल ने आवाज दी—'बापू! आगये?'

'हां, भाई ।'

'मुझे इसमें से निकालिए न ? मैं तो मारे आग के मरा जारहा हूं ।'

'क्यों पसीना छूट रहा है क्या ?'

'अजी, मैं तो पसीने से तर होगया । अब तो मुझे निकालिए न ?'

मैंने मणिलाल का सिर देखा । उसपर मोती की तरह पसीने की बूंदें चमक रही थीं । बुखार कम होरहा था । मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया ।

'मणिलाल, घबरा मत । अब तेरा बुखार चला जायगा; पर कुछ और पसीना आजाय तो कैसा ?' मैंने उससे कहा ।

उसने कहा--'नहीं बापू ! अब तो मुझे छुड़ाइए । फिर देखा जायगा ।'

मुझे धैर्य आगया था, इसीलिए बातों ही में कुछ मिनट गुजार दिये । सिर से पसीने की धारा बह चली । मैंने चद्दर को अलग किया और शरीर को पोंछकर सूखा कर दिया । फिर बाप-बेटे दोनों सो गये । दोनों खूब सोये ।

सुबह देखा तो मणिलाल का बुखार बहुत कम होगया था । दूध, पानी तथा फलों पर चालीस दिन तक रक्खा । मै निडर होगया था । बुखार हठीला था; पर वह काबू में आगया था । आज मेरे लड़कों में मणिलाल ही सबसे अधिक स्वस्थ और मजबूत है ।

इसका निर्णय कौन कर सकता है कि यह रामजी की कृपा है या जल-चिकित्सा, अल्पाहार की अथवा और किसी उपाय की ? भले ही सभी अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार बरतें; पर उस वक्त मेरी तो ईश्वर ने ही लाज रक्खी । यही मैंने माना, और आज भी मानता हूं ।"

मुझे तो लगता है, और शायद औरों को भी लगे, कि गांधीजी का यह प्रयोग 'ऊंट-वैद्य' या 'नीम हकीम' का-सा प्रयोग था । यह जोखिम उठाना उचित नहीं था । "पर डाक्टर कहां शर्तिया इलाज करता है, और जो चीज धर्म के विपरीत हो, उसे हम जान बचाने के लिए भी कैसे करें ?"

तृतीय पुत्र रामदास को साधारण चोट लगी थी, उसपर भी कुछ ऐसे ही मिट्टी के उपचार के प्रयोग किये गये । यह भी एक साधारण घटना

थी। पर इसका जिक्र करने में भी वही ईश्वरवाद आता है। "मेरे प्रयोग पूर्णतः सफल हुए, ऐसा मेरा दावा नहीं है। पर डाक्टर भी ऐसा दावा कहां कर सकते हैं? मैं इन चीजों का जिक्र इसी नीयत से करता हूं कि जो इस तरह के नवीन प्रयोग करना चाहे, उसे स्वयं अपने ऊपर ही इसकी शुरुआत करनी चाहिए। ऐसा करने से सत्य की प्राप्ति शीघ्र होती है। ईश्वर ऐसा प्रयोग करनेवाले की रक्षा करता है।"

ये वचन निश्चय ही सांसारिक मापतौल के हिसाब से अव्यावहारिक हैं। सांसारिक मापतौल, अर्थात्—जिसे लोग सांसारिक मापतौल मानते हैं। क्योंकि दरअसल तो अध्यात्म और व्यवहार दोनों असंगत वस्तुएं हो ही नहीं सकतीं। यदि अध्यात्म की संसार से पटरी न खाये तो यह फिर कोरी कल्पना की चीज रह जाता है। पर यह तर्क तो हम आसानी से कर सकते हैं कि जो क्षेत्र हमारा नहीं है उसमें पड़ने का हमें अधिकार ही कहां है? यह सही है कि डाक्टर भी सम्पूर्ण नहीं हैं, पर यह भी कहा जासकता है कि जिसने डाक्टरी नहीं सीखी वह डाक्टर से कहीं अपूर्ण है। पर गांधीजी इसका जवाब यह देंगे कि प्राकृतिक चिकित्सा के प्रयोग ही ऐसे हैं कि लाभ कम करें या ज्यादा, हानि तो कर ही नहीं सकते।

मैंने देखा है कि आज भी ऐसे प्रयोगों के प्रति उनकी रुचि कम नहीं हुई है। आज भी आश्रम में यक्ष्मा के रोगी हैं, कुष्ठ के रोगी हैं, और कई तरह के रोगी हैं और उनकी चिकित्सा में गांधीजी रस लेते हैं। इसमें भावना तो सेवा की है। रोगियों की सेवा और पतितों की रक्षा, यह उनकी प्रवृत्ति है। पर शायद जाने-अनजाने उनके चित्त में यह भी भावना है कि गरीब मुल्क में ऐसी चिकित्सा जो सुलभ हो, जो सादी हो, जो गांव-गंवई में भी की जा सके, जिसमें विशेष व्यय न हो, बजाय कीमती चिकित्सा के ज्यादा उपयोगी हो सकती है। इस दृष्टि से भी उनके प्रयोग जारी हैं। उनमें से कोई उपयोगी वस्तु ढूंढ निकालने का लोभ चल ही रहा है। और चूंकि ये प्रयोग सेवा के लिए सेवा की दृष्टि से होते हैं, यदि ये भगवान के भरोसे न हों तो काफी संकल्प-विकल्प और अशान्ति भी पैदा कर सकते

वर्षों की बात है। गांधीजी लाहौर से दिल्ली जारहे थे। वहां से फिर कलकत्ते जाना था। कलकत्ते में एक मीटिंग होनेवाली थी, इसलिए समय पर पहुंचना था। पर लाहौर के स्टेशन पर जब गाड़ी पकड़ने लगे तो गाड़ी में कहीं भी जगह न मिली। आखिर एक कुली ने इनसे बारह आने की बख्शीश मिले तो बिठा देने का वायदा किया। इन्होंने बख्शीश देने का करार किया। पर जगह तो थी ही नहीं। एक डिब्बे के लोगों ने कहा, "जगह तो नहीं है, पर चाहो तो खड़े रह सकते हो।" गांधीजी को जैसे-तैसे रेल में बैठना था, इसलिए खड़े रहना ही स्वीकार किया। कुली ने इन्हें खिड़की के रास्ते डिब्बे में ढकेलकर अपने बारह आने गांठ में दबाये।

अब रात का समय और खड़े-खड़े रात काटना। दो घंटेतक तो खड़े-खड़े समय काटा। कमजोर शरीर, रास्ते की थकान। फिर गाड़ी का शोरगुल, धूल और धुआं और खड़े रहकर यात्रा करना। कुछ धक्का-मुक्की करना जाननेवाले लोग तो लम्बी तानकर सो गये थे, पर इन्होंने तो बैठने के लिए भी जगह नहीं मांगी। कुछ लोगों ने देखा, यह अजीब आदमी है जो बैठने के लिए भी झगड़ा नहीं करता। अन्त में लोगों का कुतूहल बढ़ा। "भाई, बैठ क्यों नहीं जाते ?" कुछ ने कहा। पर इन्होंने कहा, "जगह कहां है ?" आखिर लोग नाम पूछने लगे। नाम बताया, तब तो सन्नाटा छा गया। शर्म के मारे लोगों की गर्दन झुक गई। चारों तरफ से लोगों ने अपने हाथ-पांव समेटना शुरू किया। क्षमा मांगी जाने लगी और अन्त में जगह दी और सोने को स्थान दिया। थककर प्रायः बेहोश-जैसे हो गये थे। सिर में चक्कर आते थे। इस घटना का जिक्र करते समय भी गांधीजी इसमें ईश्वर की अनुकंपा पाते हैं। "ईश्वर ने मुझे ऐसे मौके पर सहायता भेजी जबकि मुझे उसकी सख्त जरूरत थी।"

निलहे गोरों के अत्याचार से पीड़ित किसानों के कष्ट काटने के लिए यह जब चम्पारन जाते हैं तो किसानों की सभा करते हैं। दूर-दूर से किसान मीटिंग में आकर उपस्थित होते हैं। गांधीजी जब उस मीटिंग में जाते हैं तब उन्हें लगता है मानो ईश्वर के सामने खड़े हैं। "यह कहना अत्युक्ति नहीं,

बल्कि अक्षरशः सत्य है कि उस सभा में मैंने ईश्वर, अहिंसा और सत्य, तीनों के साक्षात् दर्शन किये।" और फिर जब पकड़े जाते हैं तो हाकिम के सामने जो बयान देते हैं वह सब प्रकार से प्रभावशाली और सौजन्यपूर्ण होता है। उसमें भी अन्त में कहते हैं, "श्रीमान मजिस्ट्रेट साहब, मैं जो कुछ कह रहा हूं, वह इसलिए नहीं कि आप मेरे गुनाह की उपेक्षा करके मुझे कम सजा दें। मैं केवल यही बता देना चाहता हूं कि मैंने आपकी आज्ञा भंग की, वह इसलिए नहीं कि मेरे दिल में सरकार के प्रति इज्जत नहीं है, पर इसलिए कि ईश्वर की आज्ञा के सामने मैं आपकी आज्ञा मान ही नहीं सकता था।"

ये असाधारण वचन हैं। एक तरह से भयंकर भी हैं। क्या हो, यदि हर मनुष्य इस तरह के वचन बोलने लग जाय? "अन्दरूनी आवाज" "अन्तर्नाद" या "आकाशवाणी" सुनना हरेक की किस्मत में नहीं बदा होता। इन चीजों के लिए पात्रता चाहिए। कर्मों के पीछे त्याग और तप चाहिए। सत्य चाहिए। साहस चाहिए। विवेक चाहिए। समानत्व चाहिए। अपरिग्रह चाहिए। जो केवल सेवा के लिए ही जिन्दा है, जिसे हानि-लाभ में कोई आसक्ति नहीं, जिसने कर्मयोग को साधा है, जिसकी ईश्वर में असीम श्रद्धा है, जिसको अभिमान छू तक नहीं गया, वही मनुष्य अन्तर्नाद सुन सकता है। पर झूठी नकल तो सभी कर सकते हैं। "मुझे अन्दरूनी आवाज कहती है", ऐसा कथन कई लोग करने लगे हैं। गांधीजी की झूठी नकल अवश्य ही भयप्रद है, पर कौन-सी अच्छी चीज का संसार में दुरुपयोग नहीं होता?

पर प्रस्तुत विषय तो गांधीजी की ईश्वर में श्रद्धा दिखाना है। लड़के का बुखार छूटता है तो ईश्वर की मर्जी से, गाड़ी में जगह मिलती है तो ईश्वर की मर्जी से, और सरकारी हुक्म की अवज्ञा होती है तो ईश्वर की आज्ञा से। ऐसे पुरुष के साथ कभी-कभी सांसारिक भाषा में बात करने-वालों को चिढ़ होती है। वाइसराय विलिंग्डन को भी चिढ़ थी। पर आखिर गांधीजी के बिना काम भी तो नहीं चलता। चिढ़ हो तो हो।

पेचदार भाषा की उलझन सामने होते हुए भी काम तो इन्हींसे लेना है। राजकोट में जब आमरण उपवास किया, तब वाइसराय लिनलिथगो ने इन्हें तार भेजा कि "उपवास करने से पहले आप कम-से-कम मुझे सूचना तो देदेते। आप तो मुझे जानते हैं, इसलिए यकायक आपने यह क्या किया?" गांधीजी ने लिखा, "पर मैं क्या करता? जब अन्तर्नाद होता है, तब कैसी सलाह और कैसा मशविरा?"

बात-बात में ईश्वर को सामने रखकर काम करने और बात कहने की इनकी आदत, यह कोई अव्यावहारिक वस्तु नहीं है। बात यह है कि गांधीजी की हर चीज में जो धार्मिक दृष्टि है वह हम सबके लिए समझना कठिन है। उनकी ईश्वर के प्रति जीती-जागती सतत श्रद्धा को हम समझ नहीं सकते। इसलिए हमें कभी परेशानी तो कभी चिढ़ होती है। पर यदि हम बेतार के तार के विज्ञान को पूरा न समझते हों, तो क्या उस वैज्ञानिक से परेशान होजायेंगे जो हमें इस विज्ञान को समझाने की कोशिश करता हो? क्या हम उस वैज्ञानिक से चिढ़ जायेंगे, जो हमसे वैज्ञानिक भाषा में उस विज्ञान की चर्चा करता है जिसे हम समझ नहीं पाते; क्योंकि हम उस भाषा से अनभिज्ञ हैं? गांधीजी का भी वही हाल है। अध्यात्मविज्ञान के मर्म को उन्होंने पढ़कर नहीं, बल्कि आचरण द्वारा पहचाना है।

गांधीजी में जब धर्म की भावना जाग्रत हुई तब उन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया। हिन्दू-धर्म की खोज की। ईसाई-मत का अध्ययन किया। इस्लाम के ग्रंथ पढ़े। जरथुस्त्र की रचनाएं पढ़ीं। चित्त को निर्विकार रखकर बिना पक्षपात के सब धर्मों के तत्त्वों को समझने की कोशिश की। आसक्ति-रहित होकर सत्यधर्म को, जो गुफा में छिपा था, जानने का प्रयत्न किया। धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्। इससे उनकी निरपेक्षता बढ़ी, उनका प्रयत्न तेजस्वी बना, पर उन्हें सत्य मिला। उनमें बल आया। उनमें नीर-क्षीर-विवेक आया। साथ ही निश्चयात्मक बुद्धि भी प्रबल हुई। उनके निश्चय फौलाद के बनने लगे। अन्तर्नाद सुनाई देने लगा। इस अन्तर्नाद की चर्चा में उनका संकोच भागा।

९

पर क्या वह हवा में उड़ते हैं ? क्या वह अव्यावहारिक बन गये हैं ? तो फिर यह भी पूछा जाय कि क्या एक वैज्ञानिक अव्यावहारिक होता है ? गांधीजी इकहत्तर साल के होचुके। इन इकहत्तर बरसों में इन्होंने इतना नाम पाया, जितना अपने जीवन में किसी महापुरुष ने नहीं कमाया। संसार इन्हें एक महात्मा की अपेक्षा एक महान् राजनीतिज्ञ नेता के रूप में ज्यादा जानता है। संकुचित विचार के अंग्रेज इन्हें एक छलिया, फरेबी, पेचीदा और कूट राजनीतिज्ञ समझते हैं। कट्टरपंथी मुसलमान इन्हें एक धूर्त और चालबाज हिन्दू समझते हैं, जिसका एकमात्र उद्देश्य है हिन्दू-राज की स्थापना। इससे कम-से-कम इतना तो प्रकट है कि यह कोई हवाई उड़ानवाले अव्यावहारिक पुरुष तो नहीं हैं। भारत की नाव का जिस चातुरी, धीरज और हिम्मत के साथ इन्होंने पहले बीस साल अफ्रीका में और फिर पच्चीस साल स्वदेश में संचालन किया, उसे देखकर चकित होना पड़ता है। यह कोई अव्यावहारिक मनुष्य का काम नहीं था। इनका राजनीति में इन बीस बरसों में एकछत्र राज रहा है। किसीने इन्हें चुनौती नहीं दी; और यदि दी तो वह स्वयं गिर गया। गांधीजी राजनीति में आज एक अत्यावश्यक, एक अपरिहार्य व्यक्ति बन गये हैं। क्या यह हवा में विचरने का सबूत है ? इनके पास सिवा प्रेम के बल के और कौन-सा बल है ? पर इस प्रेम के बल ने इनके अनुयायियों के दिल में इनका सिक्का जमा दिया है। इनके विपक्षियों पर इस प्रेम की छाप पड़ी है। ऐसे राज-नीतिज्ञ नेता को कौन अव्यावहारिक कहेगा ? जो मनुष्य देश के लोगों में एक जोरदार राजनैतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक प्रगति पैदा करदे और उन्हें इन तमाम क्षेत्रों में बड़े जोर से उठाये, उसे भला कौन हवाई किले का बाशिंदा कहेगा ? मेरा खयाल है, गांधीजी से बढ़कर

चतुर और व्यावहारिक राजनीतिज्ञ कम देखने में आते हैं।

पर असल बात तो यह है कि गांधीजी के जीवन में राजनीति गौण है। असल चीज तो उनमें है धर्मनीति। राजनीति उन्होंने धारण की; क्योंकि यह भी उनके लिए मोक्ष का एक साधन है। खादी क्या, हरिजन-कार्य क्या, जल-चिकित्सा क्या, और बछड़े की हत्या क्या, सारी-की-सारी उनकी हलचलें मोक्ष के साधन हैं। लक्ष्य उनका है—ईश्वर-साक्षात्कार। उपर्युक्त सब व्यवसाय उनके लिए केवल साधन हैं। गांधीजी को जो केवल एक राजनैतिक नेता के रूप में देखते हैं, उनके लिए गांधीजी की ईश्वर की रटंत, उनकी प्रार्थना, उनका अंतर्नाद, उनकी अहिंसा, उनकी अन्य सारी आध्यात्मिकता, ये सब चीजें पहेली हैं। जो उन्हें आत्मज्ञानी के रूप में देखते हैं, उनके लिए उनकी राजनीति केवल साधनमात्र दिखाई देती है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

गीता के इस तत्त्व को समझकर हम गांधीजी का अध्ययन करें, तो फिर वह पहेली नहीं रहते।

"तो क्या एक अध्यात्मवादी राजनीति का सुचारु रूप से संचालन कर सकता है?" यह प्रश्न कई लोग करते हैं।

इसका उत्तर यही है कि यदि नहीं संचालन कर सकता तो क्या एक झूठा, अकर्मण्य, लोभी, स्वार्थी, अधार्मिक आदमी कर सकता है? यदि एक निःस्वार्थ, ईश्वर-भक्त मनुष्य राजनीति का संचालन नहीं कर सकता, तो फिर गीता को पढ़कर हमें रद्दी की टोकरी में फेंक देना चाहिए। यदि राजनीति झूठ और दांव-पेंच की ही एक कला है, तो फिर यतो धर्म्मस्ततो जयः के कोई माने नहीं।

हमने गलती से यों मान रक्खा है कि धर्म और राजनीति ये दो असंगत वस्तुएं हैं। गांधीजी ने इस भ्रम का छेदन किया और अपने आचरणों से हमें यह दिखा दिया कि धर्म और अर्थ दो चीजें नहीं हैं। सबसे बड़ा अर्थ है: परम+अर्थ=परमार्थ। गीता ने जो कहा, उसका आचरण गांधीजी

ने किया। जिस चीज को हम केवल पाठ की वस्तु समझते थे वह आचरण की वस्तु है, कोरी पाठ की नहीं, गांधीजी ने हमें यह बताया। गांधीजी ने कोई नई बात नहीं की। राजनीति और धर्मनीति का जिस तरह श्रीकृष्ण ने समन्वय किया, जिस तरह जनक ने राजा हो कर विरक्त का आचरण किया उसी तरह कर्मयोग को गांधीजी ने अपने आचार द्वारा प्रत्यक्ष किया। जिस तलवार में जंग लग चुका था उसे गांधीजी ने फिरसे सान पर चढ़ाकर नया कर दिया।

१०

उन्तीस अप्रैल सन् १९३३ की बात है। उन दिनों हरिजन-समस्या गांधीजी का काफी हृदय-मंथन कर रही थी। यरवदा-पैक्ट के बाद देश में एक नई लहर आरही थी। जगह-जगह उच्चवर्ण हिन्दुओं में हजारों सालतक हरिजनों के प्रति किये गए अत्याचारों के कारण आत्मग्लानि जाग्रत होरही थी। हरिजन-सेवक-संघ जोर-शोर से अपना सेवा-कार्य विस्तृत करता जारहा था। गांधीजी के लेखों ने हरिजन-कार्य में एक नई प्रगति लादी थी। सत्याग्रह तो ठंढा पड़ चुका था। वाइसराय विलिंग्डन ने मान लिया था कि गांधीवाद का सदा के लिए खात्मा होने जारहा है। पर प्रधानमन्त्री रेम्जे मैक्डानल्ड के निर्णय के विरुद्ध गांधीजी के आमरण उपवास ने एक ही क्षण मे आये हुए शैथिल्य का नाश करके एक नया चैतन्य लादिया। लोगों ने राजनैतिक सत्याग्रह को तो वहीं छोड़ा और चारों तरफ से हरिजन-कार्य में उमड़ पड़े। यह एक चमत्कार था। वर्षों से गांधीजी हरिजन-कार्य का प्रचार करते थे, पर उच्चवर्ण हिन्दुओं की आत्मा को वह जाग्रत नहीं कर सके थे। जो काम वर्षों में नहीं होपाया था अब वह अचानक होगया।

पर जैसे हर क्रिया के साथ प्रतिक्रिया होती है वैसे ही हरिजन-कार्य के सम्बन्ध मे भी हुआ। एक तरफ हरिजनों के साथ जबर्दस्ती सहानुभूति बढ़ी, तो दूसरी ओर कट्टर विचार के रूढ़िचुस्त लोगों में कट्टरता बढ़ी।

हरिजनों के साथ जो दुर्व्यवहार होते आये थे वे शहरी और नये विचार के लोगों के लिए कल्पनातीत हैं। इन सात वर्षों में उच्चवर्ण हिन्दुओं की मनोवृत्ति में आशातीत परिवर्तन हुआ है। पर उन दिनों स्थिति काफी भयंकर थी। दक्षिण में तो केवल अस्पृश्यता ही नहीं थी, बल्कि कुछ किस्म के हरिजनों को तो देखनेमात्र में पाप माना जाता था। हरिजनों

को ओसर-मोसर पर हलवा नहीं बनाने देना, घी की पूरी नहीं बनाने देना, पांव में चांदी का कड़ा नहीं पहनने देना, घोड़े पर नहीं चढ़ने देना, पक्का मकान नहीं बनाने देना, ये साधारण दुर्व्यवहारों की श्रेणी में गिने जानेवाले अत्याचार तो प्रायः सभी प्रान्तों और प्रदेशों में उन दिनों पाये जाते थे, जो अब काफी कम हो गये हैं।

हरिजनों ने जब इस जाग्रति के कारण कुछ निर्भयता दिखानी शुरू की, तो कट्टर विचार के लोगों में क्रोध की मात्रा उफन पड़ी। जगह-जगह हरिजनों के साथ मारपीट होने लगी। गांधीजी के पास ये सब समाचार जेल में पहुंचते थे। उनका विषाद इन दुर्घटनाओं से बढ़ रहा था। अस्पृश्यता हिन्दूधर्म का कलंक है और उच्चवर्णवालों के सिर पर इस पाप की जिम्मेदारी है, ऐसा गांधीजी बराबर कहते आये हैं। हरिजनों के प्रति सद्व्यवहार करके हम पाप का प्रायश्चित्त करेंगे, ऐसा गांधीजी का हमेशा से कथन था। गांधीजी स्वयं उच्चवर्णीय है, इसलिए यह अत्याचार उन्हें काफी पीड़ित कर रहा था। हृदय में एक तूफान चलता था। क्या करना चाहिए, इसके संकल्प-विकल्प चलते थे। पंडितों से पत्र-व्यवहार चल रहा था।

"ईश्वर यह अत्याचार क्यों चलने देता है? रावण राक्षस था, पर यह अस्पृश्यता-रूपी राक्षसी तो रावण से भी भयंकर है। और इस राक्षसी की धर्म के नाम पर जब हम पूजा करते है, तब तो हमारे पाप की गुरुता और भी बढ़ जाती है। इससे हब्शियों की गुलामी भी कहीं अच्छी है। यह धर्म---इसे धर्म कहें तो---मेरी नाक में तो बदबू मारता है। यह हिन्दूधर्म हो ही नहीं सकता। मैंने तो हिन्दूधर्म द्वारा ही ईसाईधर्म और इस्लाम का आदर करना सीखा है। फिर यह पाप हिन्दूधर्म का अंग कैसे होसकता है? पर क्या किया जाये?"

इस तरह के विचार करते-करते गांधीजी २९ अप्रैल की रात को जेल में सोये। कुछ ही देर सोये होंगे। इतने में रात के ११ बजे। जेल में सन्नाटा था। बसंत का प्रवेश होचुका था। रात सुहावनी थी। मीठी

हवा चलरही थी। कैदी सब सो रहे थे। केवल प्रहरी लोग जाग्रत थे। ११ बजे के कुछ ही समय बाद गांधीजी की आंख खुली। नींद भाग गई। चित्त में महासागर का-सा तूफान हिलोरें खाने लगा। बेचैनी बढ़ने लगी। ऐसा मालूम देता था कि हृदय के भीतर एक संग्राम चल रहा है। इसी बीच एक आवाज सुनाई दी। मालूम होता था कि यह आवाज दूर से आरही है, पर तो भी ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे कोई निकट से बोल रहा हो। पर वह आवाज ऐसी थी, जिसकी हुक्मउदूली असम्भव थी। आवाज ने कहा--"उपवास कर।" गांधीजी ने इसे सुना। उनको सन्देह नहीं रहा। उनको निश्चय होगया कि यह ईश्वरीय वाणी है। अब संग्राम शांत होगया। बेचैनी दूर हुई। गांधीजी स्वस्थ होगये। उपवास कितने दिन का करना तथा कब आरम्भ करना, इसका निर्णय करके उन्होंने इस सम्बन्ध में अपना वक्तव्य भी लिख डाला और फिर गाढ़ निद्रा में मग्न होकर सोगये।

ब्राह्म मुहूर्त में उठकर वल्लभभाई और महादेवभाई के साथ प्रार्थना की। 'उठ जाग मुसाफिर भोर भयो, अब रैन कहां जो सोवत है', यह भजन महादेवभाई ने अनायास ही प्रार्थना में गाया। गांधीजी ने महादेवभाई से कहा कि तुम रात को जागे हो, इसलिए थोड़ा आराम और करलो। महादेवभाई लेट गये। उन्हें तो पता भी नहीं था कि गांधीजी ने क्या भीषण संकल्प कर डाला है। गांधीजी ने जो वक्तव्य तैयार किया वह वल्लभभाई को सौंपा। सरदार ने उसे एक बार पढ़ा, दो बार पढ़ा, फिर तो सन्न हो गये। इसमें तर्क को कोई स्थान नहीं था। और सरदार तो गांधीजी के स्वभाव को अच्छी तरह जानते हैं। "नियागरा के जल-प्रपात को रोकने की चेष्टा करना व्यर्थ है। महादेव, इनसे बढ़कर शुद्ध-बुद्ध और कौन है? जो बढ़कर हो वह इनसे तर्क करे। मैं तो नहीं करूंगा।" इतना ही सरदार ने महादेवभाई से कहा और 'ईश्वरेच्छा बलीयसी' ऐसा समझकर चुप होगये।

महादेवभाई ने साधारण तर्क किया, पर अन्त में ईश्वर पर भरोसा करके वह भी चुप होगये। दूसरे दिन तो सब जगह खबर पहुंच गई।

सारे देश में सन्नाटा छा गया। मैं ठहरा हरिजन-सेवक-संघ का अध्यक्ष। मेरे पास सन्देश पहुंचा, जिसमें गांधीजी ने यह भी कहा कि पूना मत आओ। वहीं जो कर्त्तव्य है सो करो। मुझे स्पष्ट याद आता है कि मुझे और ठक्कर बापा को यह सन्देश पाकर विशेष चिन्ता न हुई। गांधीजी इतनी भीषण आफतों में से सही-सलामत निकल चुके हैं कि इस अग्निपरीक्षा में भी वह सफलता-पूर्वक उत्तीर्ण होंगे, ऐसा मुझे दृढ़ विश्वास था। इसलिए मैंने तो यही लिख दिया कि "ईश्वर सब मंगल करेगा। हम आपके लिए अहर्निश शुभ प्रार्थना करेंगे। आपका उपवास सफल हो और वह सबका मंगल करे।"

पर राजाजी को इतनी जल्दी कहां सन्तोष होता था? गांधीजी से काफी शास्त्रार्थ किया, तर्क किया, पर एक न चली। देवदास ने भी अत्यन्त उदासी के साथ मिन्नत-आरज़ू की। जनरल स्मट्स ने अफ्रीका से एक लम्बा तार भेजा कि आप ऐसा न करें। पर ईश्वरीय आज्ञा के सामने गांधीजी किसीकी सुननेवाले थे? सरकार ने भी जब देखा कि उपवास होरहा है, तो उन्हें पूना में लेडी ठाकरसी के भवन 'पर्णकुटी' में पहुंचा दिया।

इक्कीस दिन का यह उपवास एक दुष्कर चीज था। इससे कुछ ही महीनों पहले एक उपवास होचुका था। उससे काफी कमजोरी आगई थी। उस पहले उपवास में कुछ ही दिनों बाद प्राण संकट में आगये थे, इसलिए इस उपवास में प्राण बचेंगे या नहीं ऐसी अनेक लोगों को शंका थी। पर गांधीजी ने कहा : "मुझे मृत्यु की अभिलाषा नहीं है। मैं हरिजनों की सेवा के लिए जिन्दा रहना चाहता हूं। पर यदि मरना ही है तो भी क्या चिन्ता? अस्पृश्यता की गंदगी जितनी मैंने जानी थी, उससे कहीं अधिक गहरी है; इसलिए यह आवश्यक है कि मैं और मेरे साथी, यदि जिन्दा रहना है तो, अधिक स्वच्छ बनें। यदि ईश्वर की यह मंशा है कि मैं हरिजनों की सेवा करूं, तो मेरा भौतिक भोजन बंद होने पर भी ईश्वर मुझे जो आध्यात्मिक भोजन भेजता रहेगा वह इस देह को टिकाये रक्खेगा, और यदि सब अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहेंगे तो वह भी मेरे लिए भोजन का काम

देगा। कोई अपने स्थान से न हटें। कोई मुझे उपवास रोकने को न कहें।"

८ मई १९३३ को उपवास शुरू हुआ और २९ मई को ईश्वर की दया से सफलतापूर्वक समाप्त हुआ। उपवास की समाप्ति के कई दिनों बाद गांधीजी ने कहा : "यह उपवास क्या था, मेरी इक्कीस दिन की निरन्तर प्रार्थना थी। इसका मेरे ऊपर जो अच्छा असर हुआ उसका मैं अब अनुभव कर रहा हूं। यह उपवास केवल पेट का ही निराहार न था, बल्कि सारी इन्द्रियों का निराहार था। ईश्वर में संलग्न होने के माने ही हैं तमाम शारीरिक क्रियाओं की अवहेलना, और वह इस आत्यंतिक हदतक कि हम केवल ईश्वर के सिवा और सभी चीजों को भूल जायं। ऐसी अवस्था सतत प्रयत्न और वैराग्य के बाद ही प्राप्त होती है। इसलिए तमाम ऐसे उपवास एक तरह की अव्यभिचारिणी ईश्वर-भक्ति है, ऐसा कहना चाहिए।"

१९२४ की गर्मियों की बात है। गांधीजी जेल से छूटकर आये थे। अपेंडिक्स का आपरेशन हुआ ही था। शरीर कुछ दुर्बल था। इसलिए स्वास्थ्य-लाभ के लिए जुहू ठहरे हुए थे। मैं रोज उनके साथ टहलता था। पास में बैठता था। घंटों हर विषय पर उनसे चर्चा करता था। एक रोज ईश्वर पर चर्चा चली, तो मैंने प्रश्न किया कि क्या आप मानते हैं कि आप ईश्वर का साक्षात्कार कर चुके हैं?

"नहीं, मैं ऐसा नहीं मानता। जब मैं अफ्रीका में था, तो मुझे लगता था कि मैं ईश्वर के अत्यन्त निकट पहुंच गया हूं। पर मुझे लगता है कि उसके बाद मेरी अवस्था उन्नत नहीं हुई है। बल्कि मैं सोचता हूं तो लगता है कि मैं पीछे हटा हूं। मुझे क्रोध नहीं आता, ऐसी अवस्था नहीं है। पर क्रोध का मैं साक्षी हूं, इसलिए मुझपर क्रोध का स्थायी प्रभाव नहीं होता। पर इतना तो है कि मेरा उद्योग उग्र है। आशा तो यही करता हूं कि इसी जीवन में साक्षात्कार करलूं। पर बाजी तो भगवान के हाथ में है। मेरा उद्योग जारी है।"

इन बातों को भी आज सोलह साल होगये। इसके बाद मैंने न कभी

कुतूहल किया, न ऐसे प्रश्न पूछे। पर मैं देखता हूं कि ईश्वर के प्रति उनकी श्रद्धा और आत्मविश्वास उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। पिछले दिनों किसीसे बात करते-करते कहने लगे :

"अब मुझसे ज्यादा बहस-मुबाहिसा नहीं होता। मुझे मौन प्रिय लगता है। पर मैं ऐसा नहीं मानता कि मूक वाणी का कोई असर नहीं है। असलियत तो यह है कि मूक वाणी की शक्ति स्थूल वाणी से कहीं अधिक बलवती है। लोग सत्याग्रह की बात करते हैं। सत्याग्रह जारी हुआ तो यह निश्चय मानना कि बीते काल में जिस तरह मुझे दौरा करना पड़ता था या व्याख्यान देना पड़ता था वैसी कोई क्रिया मुझे अब नहीं करनी पड़ेगी। ऐसा समझलो कि मैं सेवाग्राम में बैठा हुआ ही नेतृत्व कर लूंगा, इतना आत्मविश्वास तो आचुका है। यदि मुझे ईश्वर का पूर्ण साक्षात्कार होजाय तब तो मुझे इतना भी न करना पड़े। मैंने संकल्प किया कि कार्य बना, उस स्थिति के लिए भी मेरे प्रयत्न जारी है।"

ये मर्मस्पर्शी वाक्य हैं। हमारे भीतर कैसी अकथ शक्ति भरी है, जिसको हम ईश्वर के नाम से भी पुकार सकते हैं, इसका स्मरण हमें ये शब्द कराते हैं।

अमुक काम में ईश्वर का हाथ था, ऐसा तो गांधीजी ने कई बार कहा है; पर प्रत्यक्ष आकाशवाणी हुई है, यह उनका शायद प्रथम अनुभव था। मेरा खयाल है कि ईश्वर की उनकी असीम श्रद्धा का यह सबसे बड़ा प्रदर्शन था। मैंने उनसे इस आकाशवाणी के चमत्कार पर लम्बी बातें कीं। पर बातें करते समय मुझे लगा कि इस चीज को मुझे पूर्णतया अनुभव कराने के लिए उनके पास कोई सुगम भाषा नहीं थी। कितनी भी सुगमता से समझायें, कितनी भी प्रबुद्ध भाषा का उपयोग करें, आखिर जो चीज भाषातीत है उसको कोई क्या समझाये? जब हम कहते हैं कि एक आवाज आई, तब हम महज एक मानवी भाषा का ही प्रयोग करते हैं। ईश्वर की न कोई आकृति होसकती है, न शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इत्यादि से ईश्वर बाधित है। फिर उसकी आवाज कैसी, आकृति

कैसी? फिर भी आवाज तो आई। उसकी भाषा कौन-सी? "वही भाषा जो हम स्वयं बोलते हैं।" "उसके माने हैं कि हमें लगता है कि कोई हमसे कुछ कह रहा है। पर ऐसा तो भ्रम भी होसकता है।" "हां, भ्रम भी होसकता है, पर यह भ्रम नहीं था।" इसके यह भी माने हुए कि उस 'वाणी' को सुनने की पात्रता चाहिए। एक मनुष्य को भ्रम होसकता है। वह उसे आकाशवाणी कहेगा, तो ख्वाहमख्वाह अंधश्रद्धा फैलायेगा। दूसरा अधिकारी है, जाग्रत है। वह कह सकता है कि यह भ्रम नहीं था। आकाशवाणी भी अन्य चीजों की तरह उसका पात्र ही सुन सकता है। सूर्य का प्रतिबिंब शीशे पर ही पड़ेगा, पत्थर पर नहीं।

इक्कीस दिन का यह धार्मिक उपवास गांधीजी के अनेक उपवासो में से एक था। छोटे-छोटे उपवासों की हम गणना न करें, तो भी अबतक शायद दस-बारह तो इनके ऐसे बड़े उपवास होचुके हैं जिनमें इन्होंने प्राणों की बाजी लगाई।

जैसे और गुणों के विषय में, वैसे ही उपवास के विषय में भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रवृत्ति कैसे जाग्रत हुई। गुलाब का फूल पहले जन्मा या उसकी सुगंध? कौनसी प्रवृत्ति पहले जाग्रत हुई, कौनसी पीछे, इसका हिसाब लगाना यद्यपि दुष्कर है, पर इतना तो हम देख सकते हैं कि इनकी माता की उपवासों की वृत्ति ने शायद इनकी उपवास-भावना को जाग्रत किया। इनकी माता अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति की थीं। उपवासों में उन्हें काफी श्रद्धा थी। छोटे-मोटे उपवास तो सालभर होते ही रहते थे। पर 'चातुर्मास' में तो एक ही बेला भोजन होता था। 'चान्द्रायण' व्रत इनकी माता ने कई किये। एक 'चातुर्मास' में इनकी माता ने व्रत लिया कि सूर्यदर्शन के बिना भोजन नहीं करूंगी। बरसात में कभी-कभी सूर्य कई दिनोंतक निकलता ही नहीं था। निकलता भी था तो चन्द मिनटों के लिए। बालक गांधी छत पर चढ़े-चढ़े एकटक सूर्य के दर्शन की प्रतीक्षा करते रहते और दर्शन होते ही मां को खबर देते। पर कभी-कभी बेचारी मां पहुंचे उससे पहले ही सूर्यदेवता तो मेघाच्छन्न आका

में लुप्त होजाते थे। पर मां को इससे असन्तोष नहीं होता था। "बेटा, रहने दो चिन्ता को, ईश्वर ने ऐसा ही चाहा था कि आज मैं भोजन न करूं।" इतना कहकर वह अपने काम में लग जाती थीं।

बालक गांधी पर इसकी क्या छाप पड़ सकती थी, यह हम सहज ही सोच सकते हैं। यह छाप जबर्दस्त पड़ी। पहला उपवास, मालूम होता है, उन्होंने अफ्रीका में किया, जबकि 'टाल्स्टॉय फार्म' में आश्रम चला रहे थे। यह कुछ दिनों के लिए बाहर थे। पीछे से आश्रमवासियों में से दो के सम्बन्ध में इन्हें पता लगा कि उनका नैतिक पतन हुआ है। इससे चित्त को चोट तो पहुंचनी ही थी, पर इन्हें लगा कि ऐसे पतन की जिम्मेदारी कुछ हदतक आश्रम के गुरु पर भी रहती है। चूंकि आश्रम के संचालक गांधीजी थे, इस दुर्घटना में इन्होंने अपनी जिम्मेदारी भी महसूस की। इसके लिए गांधीजी ने सात दिन का उपवास किया। इसके कुछ ही दिन बाद इसी घटना के सम्बन्ध में इन्हें चौदह दिन का एक और उपवास करना पड़ा।

इसके बाद और अनेक उपवास हुए हैं। स्वदेश लौटने पर ऐसी ही घटनाओं को लेकर एक-दो और उपवास किये। अहमदाबाद की मिल-हड़ताल के लिए एक उपवास किया। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के लिए इक्कीस दिन का एक उपवास किया। हरिजनों की सीटों के सम्बन्ध में प्रधानमंत्री मैक्डानल्ड के निर्णय के विरुद्ध एक आमरण उपवास किया और फिर हरिजन-प्रायश्चित्त के लिए एक उपवास किया। हरिजन-प्रचार-कार्य के लिए सरकार ने जेल में इनपर बंदिश लगादी, तब एक और उपवास किया। हरिजन-प्रवास की समाप्ति पर कुछ हरिजन-सेवकों के असहिष्णु व्यवहार के प्रायश्चित्तस्वरूप वर्धा में सात दिन का उपवास किया। एक उपवास राजकोट में किया। प्रधानमंत्री के निर्णय के विरुद्ध जो उपवास किया उसकी सफल समाप्ति में कुछ हिस्सा मेरे भी जिम्मे आया था। इसलिए इस उपवास का निकट से अवलोकन और अध्ययन करने का मुझे काफी मौका मिला।

उन दिनों गांधीजी जेल में ही थे। सत्याग्रह चल रहा था,

यद्यपि लोगों की थकान बढ़ती जाती थी। अचानक एक बम गिरा--लोगों ने सुना कि गांधीजी ने आमरण उपवास की ठानी है। चारों तरफ खलबली मच गई। मैं तो यह समाचार अखबारों में पढ़ते ही हक्का-बक्का रह गया। गांधीजी को मैंने तार भेजा कि क्या करना चाहिए? मैं तो सहम गया हूं। फौरन उत्तर आया, "चिंता की कोई बात नहीं। हर्ष मनाने की बात है। अत्यन्त दलित के लिए यह अन्तिम यज्ञ करने का ईश्वर ने मुझे मौका दिया है। मुझे कोई शंका नहीं कि उपवास स्थगित नहीं किया जासकता। यहां से कोई सूचना या सलाह भेजने की मैं अपनेमें पात्रता नहीं पाता।" किसीकी समझ में नहीं आया कि क्या करना चाहिए, पर हमारे सबके मुंह पूना की ओर मुड़े और लोग एक-एक करके वहां पहुंचने लगे।

राजाजी, देवदास और मैं तो शीघ्र ही पूना पहुंच गये। पूज्य मालवीयजी, सर तेजबहादुर सप्रू, श्री जयकर, राजेन्द्रबाबू, रावबहादुर राजा, ये लोग भी एक के बाद एक बम्बई और फिर पूना पहुंचने लगे। पीछे से डाक्टर अम्बेडकर को भी बुला लिया गया था। सरकारी आज्ञा लेकर सर पुरुषोत्तमदास, सर चुन्नीलाल, मथुरादास वसनजी और मैं सर्वप्रथम गांधीजी से जेल में मिले। हम लोगों को गांधीजी से जेल-सुपरिन्टेंडेंट के कमरे में मिलाया गया। उपवास अभी शुरू नहीं हुआ था। कमरा एकतल्ले पर था। उसकी खिड़कियों में से हमें जेल का काफी हिस्सा दृष्टिगोचर होता था। जहां फांसी होती है, वह हाता भी खिड़की में से दिखाई देता था। गांधीजी के आने का रास्ता उसी हाते की दीवार के नीचे से गुजरता था। मैंने गांधीजी को करीब नौ महीने से नहीं देखा था। अचानक खिड़की में से मैंने गांधीजी को तेजी के साथ हमारी ओर आते देखा। मैं सब चिंता भूल गया। गांधीजी तो इस तरह सरपट चले आरहे थे मानों कुछ हुआ ही नहीं था। उनकी तरफ फांसी का हाता था, जहां, मैंने सुना, दो-तीन दिन पहले ही एक आदमी को लटकाया गया था। मेरा जी भर आया। यह आदमी और ऐसी जगह पर!

गांधीजी ऊपर कमरे में आये। मैंने बड़े प्रेम से पांव छुए। फिर तो काम की बातें होने लगीं। उन्होंने बड़ी सावधानी से हर चीज ब्यौरे-वार समझाई। उपवास क्योंकर बंद होसकता है, यानी होने के बाद कैसे समाप्त होसकता है, इसकी शर्तों का ब्यौरेवार उन्होंने जिक्र किया। बात करने से पहले जहां हमें उनका यह कार्य कुछ आवश्यकता से अधिक कठोर लगता था, बात करने पर वह धर्म है, एक कर्त्तव्य है, ऐसा लगने लगा। उनका मानसिक चित्र लेकर हम लोग वापस बम्बई लौटे और पूज्य माल-वीयजी और दूसरे नेताओं को सारा हाल सुनाया।

मुझे याद आता है कि उस समय हमारे नेतागण किस तरह अत्यन्त आलस्य के साथ उलझन में पड़े हुए किंकर्त्तव्यविमूढ़ होरहे थे। न तो गांधीजी का उपवास किसीको पसंद था, न उनकी रचनात्मक सलाह की कोई उपयोगिता समझी जाती थी। न किसीको खयाल था कि समय की बरबादी गांधीजी की जान को जोखिम में डाल रही थी। बारबार यही जिक्र आता था कि उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था। यह उनका बलात्कार है। उन्हें समझाना चाहिए कि वह अब भी उपवास छोड़ दें। यह कोई महसूस भी नहीं करता था कि न तो वह उपवास छोड़ सकते थे, न यह समा-लोचना का ही समय था। हमारे सामने एक ही प्रश्न था कि कैसे उस गुत्थी को सुलझाकर गांधीजी की प्राण-रक्षा की जाये। मुझे स्पष्ट याद है कि नेताओं में एक मनुष्य था, जिसका दिमाग कुछ रचनात्मक कार्य कर रहा था। वह थे सर तेजबहादुर सप्रू। पर गांधीजी की प्राण-रक्षा का जिम्मा तो असल में ईश्वर ने ले रक्खा था। हम वृथा ही चिन्ता करते थे।

हालांकि गांधीजी ने उपवास शुरू करने से पहले काफी समय देदिया था, पर उस समय का कोई भी सार्थक उपयोग न होसका। गांधीजी स्वयं सारा कारबार अपने हाथ में न लेलेते तो कोई उपयोगी काम होता या नहीं, इसमें भी मुझे शक है। उपवास शुरू होते ही सरकार ने जेल के दरवाजे खोल दिये। नतीजा इसका यह हुआ कि गांधीजी से मिलना-जुलना बिना किसी रोक-टोक के होने लगा। इसलिए इस व्यवसाय की

चित्रकार

भूरसिंह, पिलानी

सारी बागडोर पूर्णतया गांधीजी के हाथों में चली गई। सरकार का तो यही कहना था कि हरिजन और उच्चवर्ण के लोगों के बीच जो भी समझौता होजाय उसको वह मान लेगी। इसलिए वास्तविक काम यही था कि उच्चवर्ण और हरिजन नेताओं के बीच समझौता हो।

वैसे तो हम लोग समझौते की चर्चा में रात-दिन लगे रहते थे। पर दरअसल सिद्धांतों के सम्बन्ध में तो दो ही मनुष्यों को निर्णय करना था। एक ओर गांधीजी और दूसरी ओर डाक्टर अम्बेडकर। पर इन सिद्धांतों की नींव पर भी तो एक भीत चुननी थी। उसमें सर तेजबहादुर सप्रू की बुद्धि का प्रकाश हम लोगों को काफी सहायता देरहा था। मैंने देखा कि गांधीजी यद्यपि धीरे-धीरे निर्बल होते जाते थे, पर मानसिक सतर्कता में किसी तरह का कोई फर्क न पड़ा। बराबर दिनभर कभी उच्चवर्ण के नेताओं से तो कभी अम्बेडकर से उनका सलाह-मशवरा चलता ही रहता था।

राजाजी, देवदास और मैं अपने ढंग से काम को प्रगति दे रहे थे। पर बागडोर तो सम्पूर्णतया गांधीजी के ही हाथ में थी। गांधीजी का धीरज, उनकी असीम श्रद्धा, उनकी निर्भयता, उनकी अनासक्ति, यह सब उस समय देखने ही लायक थी। मौत दरवाजे पर खड़ी थी। सरकार क्रूरतापूर्वक तटस्थ होकर खड़ी थी। अम्बेडकर का हृदय कटुता से भरा था। हिन्दू नेता सुबह से शाम और शाम से सुबह कर देते थे, पर समझौता अभी कोसों दूर था। राजाजी, देवदास और मुझको कभी-कभी झुंझलाहट होती थी। पर गांधीजी सारी चिन्ता ईश्वर को समर्पण करके शांत पड़े थे।

एक रोज जब जेल के भीतर मशवरा चल रहा था, तब गांधीजी ने कुछ हिन्दू नेताओं से कहा, "घनश्यामदास ने मेरी एक सूचना आपको बताई होगी।" एक नेता ने झटपट कह दिया, "नहीं, हमें तो कुछ मालूम नहीं।" गांधीजी ने एक क्षणिक रोष के साथ कहा, "यह मेरे दुर्भाग्य की बात है।" मुझे चोट लग गई। मैं जानता था, और यह नेता भी जानते थे, कि गांधीजी की सारी सूचना मैं उन्हें देचुका था। पर जो लोग गांधीजी को एक अव्यावहारिक, हवा में तैरनेवाला, शख्स मानते हैं, उन्हें गांधीजी

पैसा

की सूचना सुनने तक की फुरसत नहीं थी। उस सूचना को उन्होंने महज़ मजाक में उड़ा दिया था। मैंने सब बातें याद दिलाईं और इसपर उन नेता ने अपनी भूल सुधारी। पर बुरा असर तो हो ही चुका था। इसी तरह किसी छोटी-सी बात पर उस रोज देवदास और राजाजी पर भी गांधीजी को थोड़ा रोष आगया था। रात को नौ बजे सोने के समय गांधीजी को विषाद होने लगा। "मैंने रोष करके अपने उपवास की महिमा गिरादी।" रोष क्या था, एक पलभर का आवेश था। पर गांधीजी के स्वभाव को इतना भी असह्य था। अपना दोष तिलभर भी हो तो उसे पहाड़ के समान मानना और पराया दोष पहाड़ के समान हो तो भी उसे तिल के समान देखना, यह उनकी फिलासफी है। बिहार में जब भूकम्प हुआ, तो उन्होंने उसे 'हमारे पापों का फल' माना।

गांधीजी ने तुरन्त राजाजी को तलब किया और उनके सामने अत्यन्त कातर होगये। आंखों से अश्रुओं की झड़ी लग गई। रात को ग्यारह बजे जेलवालों की मार्फत डेरे पर से देवदास की और मेरी बुलाहट हुई। मैं तो सो गया था, पर देवदास गया। गांधीजी ने उससे 'क्षमा' चाही। पिता पुत्र से क्या क्षमा मांगे? पर एक महापुरुष पिता यदि अपना व्यवहार सौ टंच के सोने के जितना निर्मल न रक्खे, तो फिर संसार को क्या सिखा सकता है?

राजाजी और देवदास दोनों से गांधीजी ने अत्यन्त खेद प्रकट किया और कहा कि इसी समय जाकर घनश्यामदास से भी मेरा खेद प्रकट करो। उन्होंने तो मुझे जगाना भी उचित नहीं समझा, क्योंकि इस चीज को हमने तिलभर भी महत्त्व नहीं दिया था। पर यह गांधीजी की महिमा है। 'आकाशवाणी' वाले उपवास पर भी, जो कुछ महीने बाद किया गया था, इसी तरह राजाजी और शंकरलाल पर उन्हें कुछ रोष आगया था, जिसके लिए उन्होंने राजाजी को एक माफी की चिट्ठी भेजी थी। राजाजी ने तो उस चिट्ठी को मजाक में उड़ा दिया, क्योंकि जिस चीज को गांधीजी रोष मानते थे वह हम लोगों की दृष्टि में कोई रोष ही नहीं था।

पर यह तो दूसरे उपवास की बात बीच में आगई। प्रस्तुत उपवास, जिसका जिक्र चल रहा था, वह तो चला ही जाता था। सुबह होती थी और फिर शाम होजाती थी। एक कदम भी मामला आगे नहीं बढ़ता था। देवदास तो एक रोज कातर होकर रोने लगा। गांधीजी की स्थिति नाजुक होती जाती थी। एक तरफ अम्बेडकर कड़ा जी करके बातें करता था, दूसरी ओर हिन्दू नेता कई छोटी-मोटी बातों पर अड़े बैठे थे। प्रायः मोटी-मोटी सभी बातें तय होचुकी थीं, पर जबतक एक भी मसला बाकी रह जाय तबतक अंतिम समझौता आकाशकुसुम की तरह होरहा था और अंतिम समझौता हुए बिना उनकी प्राण-रक्षा असम्भव थी।

हरिजनों को कितनी सीटें दी जायं, यह अम्बेडकर के साथ तय कर लिया गया था। किस प्रांत में कितने हरिजन हैं, न्यायपूर्वक उन्हें कितनी सीटें मिलें, इसका ज्ञान ठक्कर बापा को प्रचुरमात्रा में था, जो उस समय हम लोगों के काम आया। चुनाव किस तरह हो, इस पद्धति के सम्बन्ध में भी अम्बेडकर से समझौता होगया। पर यह पद्धति कितने साल चले, इसपर झगड़ा था। अम्बेडकर चाहता था कि चुनाव की यह पद्धति तो दस साल के बाद ही समाप्त हो; पर जो सीटें हरिजनों के लिए अलग रिजर्व की गई हैं वे अलग रिजर्व बनी रहें या उच्चवर्ण के हिन्दुओं के साथ ही हरिजनों की सीटें भी सम्मिलित होजायं और सबका सम्मिलित चुनाव हो, यह प्रश्न पन्द्रह साल के बाद हरिजनों के वोट लेकर उनकी इच्छानुसार निर्णय किया जाये। पर हिन्दू नेता इसके खिलाफ थे। वे चाहते थे कि सारी-की-सारी पद्धति एक अरसे के बाद, ज्यादा-से-ज्यादा दस साल के बाद, खतम कर देनी चाहिए। उनकी दलील थी कि अछूतपन कलंक है, इसलिए दस साल में वह मिटा दिया जाय; और बाद में राजनीति के क्षेत्र में न कोई छूत रहे न अछूत, सबकी सम्मिलित सीटें हों।

अम्बेडकर साफ इन्कार कर गया और मामला फिर उलझ गया। गांधीजी की अपनी और राय थी। अम्बेडकर जब इस संबंध में जेल में

जाकर गांधीजी से बहस करने लगा तब गांधीजी ने कहा, "अम्बेडकर, मैं सारी सीटें बिना हरिजनों की मर्जी के सम्मिलित करने के पक्ष में नहीं हूं, पर मेरी राय है कि पांच साल के बाद ही हम हरिजनों की अनुमति का वोट मांगें और उनकी इच्छानुसार निर्णय करें।" पर डाक्टर अम्बेडकर ने कहा कि दस साल से पहले तो किसी भी हालत में हरिजनों की अनुमति की जानकारी के लिए उनसे वोट न मांगें जायें। यह बहस काफी देर तक चलती रही। गांधीजी की उत्कट इच्छा थी कि पांच साल के अन्दर-ही-अन्दर सवर्ण अपने आचरण से हरिजनों को सम्पूर्णतया अपनालें। इस काम के लिए इससे अधिक समय लगजाना कल्पना के बाहर मालूम देता था। राजाजी और मैं चिंतित भाव से गांधीजी के मुंह की तरफ देख रहे थे। मेरे दिल में आता था कि जान की बाजी है, गांधीजी क्यों इतना हठ करते हैं? पर गांधीजी निःशंक थे। उनके लिए जीना-मरना प्रायः एकसमान था। बातें चलती रहीं। अन्त में गांधीजी के मुंह से अचानक निकल गया—"अम्बेडकर, या तो पांच साल की अवधि, उसके बाद हरिजनों के मतानुसार अन्तिम निर्णय, नहीं तो मेरे प्राण।" हम लोग स्तब्ध होगये। गांधीजी ने तीर फेंक दिया, अब क्या हो?

लम्बी सांस लेकर हम लोग वापस डेरे पर आगये। अम्बेडकर को समझाया, पर वह टस-से-मस न हुआ। उसके कट्टर हरिजन साथी डाक्टर सोलंकी ने भी उसकी जिद को नापसंद किया। मैंने राजाजी से कहा कि "राजाजी, क्यों पांच साल, और क्यों दस साल? हम यही क्यों न निश्चय रक्खें कि भविष्य में चाहे जब हरिजनों की अनुमति से हम इस करार को बदल सकेंगे?" राजाजी ने कहा कि गांधीजी को शायद यह पसंद न आये। मैंने कहा—कुछ हम भी तो जिम्मेदारी लें। उन्हें पूछने का अब अवसर कहां है? राजाजी ने कहा—तीर चलाओ। मैंने यह प्रस्ताव अम्बेडकर के सामने रक्खा। लोगों ने इसका समर्थन किया और वह मान गया। एक समाप्ति तो हुई। पर गांधीजी की अनुमति तो बाकी थी। राजाजी जेल में गये और गांधीजी को यह किस्सा

सुनाया। उन्होंने करार के इस प्रकरण की भाषा ध्यानपूर्वक सुनी। एक बार सुनी, दो बार सुनी, अन्त में धीरे से कहा—"साधु !" सबके मुंह पर प्रसन्नता छागई। मैं जब उनकी अनुमति मिल चुकी, तभी उनके पास पहुंचा। और उनके चरण छुए। बदले में उन्होंने जोर की थपकी दी। उपवास खुलने में दो दिन और भी लगे, क्योंकि इतना समय सरकार ने यरवदा-पैक्ट की स्वीकृति देने में लगाया। २० सितम्बर १९३२ को उपवास शुरू हुआ, २४ को यरवदा-पैक्ट बना, २६ को सरकार की स्वीकृति मिली और उपवास टूटा।

पर सारी घटना में देखने लायक चीज यह थी कि मौत की साक्षात् मूर्त्ति भी गांधीजी को एक तिल भी दायें-बायें नहीं डिगा सकी थी। सभी उपवासों में इनका यही हाल रहा। राजकोट के उपवास में भी एक तरफ मृत्यु की तैयारी थी, वमन जारी था, बेचैनी बढ़ती जारही थी, और दूसरी तरफ वाइसराय से लिखा-पढ़ी करना और महादेवभाई और मुझको (दोनों-के-दोनों हम दिल्ली में थे) संदेश भेजना जारी था। इसमें कोई शक नहीं कि हर उपवास में अन्तिम निर्णय——चाहे वह निर्णय हरिजन और उच्चवर्ण के नेताओं के बीच हुआ हो, चाहे वाइसराय और गांधीजी के बीच——गांधीजी की मृत्यु के डर के बोझ के नीचे दबकर हुआ। किसी मर्तबा भी शांतिपूर्वक सोचने के लिए न समय था, न अवसर मिला। फिर भी गांधीजी कहते हैं कि 'उतावलापन हिंसा है।' तुलसीदासजी ने जब यह कहा कि 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं' तब उन्होंने यह कोई व्यंग्योक्ति नहीं की थी। असल बात भी यह है कि समर्थ मनुष्य के तमाम कामों में एकरंगापन देखना, यह बिलकुल भूल है। एकरंगापन यह जरूर होता है कि हर समय हर काम के पीछे सेवा होती है, शुद्ध भावना होती है। हर काम यज्ञार्थ होता है पर तो भी हर काम की शक्ल परस्पर निरोधात्मक भी हो सकती है।

गांधीजी के उपवासों की काफी समालोचना हुई है, और लोगों ने काफी पुष्टि भी की है। पर साधारण वाद-विवाद से क्या निर्णय होसकता है? उपवास एक व्यक्ति के द्वारा किये जाने पर पापमय और केवल धरना भी होसकता है, और दूसरे के द्वारा वही चीज धर्म और कर्त्तव्य भी होसकती है।

बात सारी-की-सारी मंशा की है। उपवास यज्ञार्थ है क्या? फलासक्ति त्यागकर किया जारहा है क्या? शुद्ध बुद्धि से किया जारहा है क्या? करनेवाला सात्त्विक पुरुष है क्या? ईर्ष्या-द्वेष से रहित है क्या? इन सब प्रश्नों के उत्तर पर उपवास धर्म है या पाप है, इसका निर्णय होसकता है। पर निरी उपयोगिता की दृष्टि से भी हम उपवास-नीति के शुभ-अशुभ पहलू सोच सकते हैं।

संसार को उलटे मार्ग से हटाकर सीधे मार्ग पर लाने के लिए ही महापुरुषों का जन्म होता है। भिन्न-भिन्न महापुरुषों ने अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिए भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुसरण किया। पर इन सब मार्गों के पीछे लक्ष्य तो एक ही था। नीति की स्थापना और अनीति का नाश—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

पर इस लक्ष्य-पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न महापुरुषों के साधनों की बाहरी शक्ल-सूरत में अवश्य ही भेद दिखाई देता है। प्रजा को सुशिक्षण देना, उसकी सोई हुई उत्तम भावनाओं को जाग्रत करना, इन सब उद्देश्यों की प्राप्ति महापुरुष अपने खुद के आचरणद्वारा और उपदेश-आदेश-द्वारा करते हैं। "मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः" यह श्रीकृष्ण ने कहा। गांधीजी कहते है, "जैसे शारीरिक व्यायाम द्वारा शारीरिक

गठन प्राप्त होसकता है और बौद्धिक व्यायाम द्वारा बौद्धिक विकास, वैसे ही आत्मोन्नति के लिए आध्यात्मिक व्यायाम जरूरी है और आध्यात्मिक व्यायाम का आधार बहुत अंश में गुरु के जीवन और चरित्र पर निर्भर करता है। गुरु यदि शिष्यों से मीलों दूर भी हो, तो भी अपने चरित्र-बल से वह शिष्यों के चरित्रों को प्रभावान्वित कर सकता है। यदि मैं स्वयं झूठ बोलता हूं, तो अपने लड़कों को सत्य की महिमा कैसे सिखा सकता हूं? एक कायर शिक्षक अपने विद्यार्थियों को बहादुर नहीं बना सकता, न एक भोगी अध्यापक बालकों को आत्मनिग्रह सिखा सकता है। इसलिए मैंने यह देख लिया कि मुझे, कुछ नहीं तो अपने बालकों के लिए ही सही, सत्यवान, शुद्ध और शुभकर्मी बनना चाहिए।" इसलिए सभी महापुरुषों ने अपने चरित्र और उपदेशों द्वारा ही धर्म का प्रचार किया है। धर्म की वृद्धि से अधर्म का स्वतः ही नाश होता है। पर कभी-कभी अधर्म पर सीधा प्रहार भी महापुरुषों ने किया है। और अनीति का नाश करने के साधनों का जब हम अवलोकन करते हैं, तो मालूम होता है कि महापुरुषों के इन साधनों के बाहरी स्वरूप में काफी भेद रहा है।

श्रीकृष्ण ने भूमि का भार हलका किया, अर्थात् संसार में पापों का बोझ कम किया, तब जिन साधनों का उपयोग किया उनके बाहरी रूप में और बुद्ध के साधनों के बाहरी रूप में अवश्य भेद मिलता है। महाभारत का युद्ध, कंस का नाश, शिशुपाल और जरासंध इत्यादि दुष्ट राजाओं का श्रीकृष्ण के द्वारा वध होना आदि घटनाएं हम ऐतिहासिक मानलें, तो यह कहना होगा कि श्रीकृष्ण का भूमि-भार हरने का तरीका और बुद्ध का तरीका बाहरी स्वरूप में भिन्न-भिन्न थे। पर हम कह सकते हैं कि मूल तो दोनों तरीकों का एक ही है। जिनका वध किया उनसे श्रीकृष्ण को न द्वेष था, न ईर्ष्या थी, न उन्हें उनके प्रति क्रोध था।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

यह लक्ष्य था और जिस तरह एक विज्ञ जर्राह रोगी के सड़े अंग

को रोगी की भलाई के लिए ही काटकर फेंक देता है, उसी तरह श्रीकृष्ण ने और श्रीरामचन्द्र ने समाज की रक्षा के लिए, और जिनका वध किया गया उनकी भी भलाई के लिए, दुष्टों का दमन किया। जिनका वध किया गया—जैसे रावण, कंस, जरासंध इत्यादि, उन्हें भी श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्ण ने सुगति ही दी, ऐसा हमारे पुराण बताते हैं।

महापुरुषों ने दुष्टों का वध किया इसलिए हमें भी ऐसा ही करना चाहिए, ऐसी दलील तो हिंसा के पक्षपाती चटपट दे डालते हैं। पर यह भूल जाते हैं कि ये वध बिना क्रोध, बिना द्वेष, फलासक्ति से रहित होकर समाज की रक्षा के लिए किये गये थे, और जो मारे गये उन्हें भगवान द्वारा सुगति मिली। इसलिए मूल में तो राम क्या, कृष्ण क्या, और बुद्ध क्या, सभी समानतया अहिंसावादी थे। राम और कृष्ण के साधनों का बाहरी रूप हिंसात्मक दिखाई देते हुए भी उसे हिंसा नहीं कह सकते; क्योंकि "न मा कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा" और फिर,

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

इन वचनों को यदि हम ध्यानपूर्वक सोचें तो सहज ही समझ में आजायगा कि श्रीराम और श्रीकृष्ण हिंसा से उतने ही दूर थे जितने कि बुद्ध।

गांधीजी ने भी बछड़े की हत्या करके उसे अहिंसा बताया; क्योंकि मारदेनामात्र ही हिंसा नहीं है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

हिंसा-अहिंसा का निर्णय करने के लिए हमें यह भी जानना जरूरी है कि मारनेवाले ने किस मानसिक स्थिति में किस भावना से वध किया है। वध करनेवाले की मानसिक स्थिति और भावना ही हमें इस निर्णय पर पहुंचा सकती है कि अमुक कर्म हिंसा है या अहिंसा। पर राग-द्वेष से रहित होकर, अक्रोधपूर्वक, शुद्धभाव से लोककल्याण के लिए, किसीका

वध करनेवाला क्या कोई साधारण पुरुष होसकता है? वह तो कोई असाधारण दैवी पुरुष ही होसकता है। इसके माने यह भी हुए कि उत्तम उद्देश्य के लिए भी हिंसात्मक शस्त्र-ग्रहण साधारण मनुष्य का धर्म नहीं बन सकता। राग, द्वेष, क्रोध और ईर्ष्या से जकड़े हुए हम न तो हिंसा-शस्त्र धर्मपूर्वक चला सकते हैं, न राग-द्वेष के कारण जिनकी विवेक-बुद्धि नष्ट होगई है वे यही निर्णय कर सकते हैं कि वध के योग्य दुष्ट कौन हैं। राग-द्वेष से रहित हुए बिना हम यह भी तो सही निर्णय नहीं कर सकते कि दुष्ट हम हैं या हमारा विरोधी। यदि हम दुष्ट हैं और हमारा विरोधी सज्जन है, तो फिर लोक-कल्याण का बहाना लेकर हम यदि हिंसा-शस्त्र का उपयोग करते हैं तो पाप ही करते हैं और आत्म-वंचना भी करते हैं। असल में तो अनासक्ति-पूर्वक हिंसा-शस्त्र का उपयोग केवल उन उच्च महा-पुरुषों के लिए ही सुरक्षित समझना चाहिए, जिनमें कमल की तरह जल में रहते हुए भी अलिप्त रहने की शक्ति है। इसलिए साधारण आदमियों का निर्दोष धर्म तो केवल अहिंसात्मक ही हो सकता है।

जो अहिंसक नहीं बन सका वह आत्म-रक्षा के लिए चाहे हिंसा का प्रयोग करे, पर वहां तुलना हिंसा और अहिंसा के बीच नहीं है। तुलना है कायरता और आत्म-रक्षा के लिए की गई हिंसा के बीच, और कायरता अवश्य ही आत्म-रक्षा के लिए की गई हिंसा से भी बुरी है। कायरता तमःप्रधान है। आत्म-रक्षा के लिए की गई हिंसा रजोगुणी भी होसकती है। पर आत्म-रक्षा के लिए की गई हिंसा भी शुद्ध धर्म नहीं, अपेक्षाकृत धर्म ही है। शुद्ध धर्म तो अहिंसा ही है।

स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि डकैती के लिए एक डाकू हिंसा करता है, तो वह निकृष्ट पाप करता है। आत्म-रक्षा के लिए, देश या धर्म की रक्षा के लिए की गई हिंसा, यदि न्याय हमारे साथ है तो, उस डकैत द्वारा की गई हिंसा की तुलना में धर्म है। पर अच्छे हेतु के लिए अनासक्त होकर की गई हिंसा अहिंसा ही है और इसलिए शुद्ध धर्म है। उसी तरह कायरता लेकर धारण की गई अहिंसा, अहिंसा नहीं पाप

है। अशोक वीर था। उसने दिग्विजय के बाद सोचा कि साम्राज्य-स्थापन के लिए की गई हिंसा पाप है। इसलिए उसने क्षमा-धर्म का अनुसरण किया। वह वीर की क्षमा थी; पर उसीका पौत्र अपनी कायरता ढांकने के लिए अशोक की नकल करने लगा। उसमें न क्षमा थी, न शौर्य था। उसमें थी कायरता। इसलिए कवियों ने उसे मोहात्मा के नाम से पुकारा। बलिष्ठ की अहिंसा ही, जो विवेक के साथ है, शुद्ध अहिंसा है। वह एक सत्त्वगुणमयी वृत्ति है। कायर की अहिंसा और डाकू की हिंसा दोनों पाप है। अनासक्त की हिंसा और बलिष्ठद्वारा विवेक से की गई अहिंसा दोनों ही धर्म और अहिंसा हैं।

पर धर्म की गति तो सूक्ष्म है। मनुष्य क्रोध के वश या लोभ के वश हिंसकवृत्ति पर आसानी से संयम नहीं कर पाता। इसलिए गांधीजी ने हिंसा को त्याज्य और अहिंसा को ग्राह्य माना। गांधीजी स्वयं जीवन्मुक्त दशा में, चाहे वह दशा क्षणिक--जब निर्णय किया जारहा हो उस घड़ी के लिए ही--क्यों न हो, अहिंसात्मक हिंसा भी कर सकें, जैसे कि बछड़े की हिंसा, पर साधारण मनुष्य के लिए तो वह कर्म कौए के लिए हंस की नकल होगी। इसलिए सबके लिए सरल, सुगम और स्वर्णमय मार्ग अहिंसा ही है, ऐसा गांधीजी ने मानकर अहिंसा-धर्म की वृद्धि की है। उपवास की प्रवृत्ति भी इसीमें से जन्मी।

हिंसा को पूर्णतया त्याज्य मानने के बाद भी ऐसे शस्त्र की जरूरत तो रह ही जाती है, जिससे अधर्म का नाश हो। धर्म को अत्यन्त प्रगति मिलने पर भी अधर्म का नाश होता है, पर अधर्म का नाश होने पर भी तो धर्म की प्रगति का आधार रहता है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। एक मनुष्य हमसे वादाखिलाफी करता है, जैसा कि राजकोट में हुआ था। या तो हमपर कोई जबरन एक ऐसी भयंकर चीज लादता है कि जो जबर्दस्त प्रतिवाद के बिना नहीं रोकी जा सकती—जैसा कि हरिजन साम्प्रदायिक निर्णय के सम्बन्ध में हुआ। तब अहिंसा-शस्त्रधारी ऐसी परिस्थिति में क्या करे? हिंसा को तो उसने त्याज्य माना है। इसलिए उसे तो

ऐसे ही शस्त्र का प्रयोग करना है, जो जनता की आत्मा को अधर्म के खिलाफ उत्तेजन दे पर जनता का क्रोध न बढ़ाये, जनता में द्वेष पैदा न होने दे, जो बुराई को छेदन करने के लिए तो लोगों को उकसाये पर साथही बुराई करनेवालों को भय से मुक्त भी करदे। हमारा एक निकटस्थ बुरी लत में फंसा है, उसको हम कैसे बुरे मार्ग से हटायें? उसे व्याकुल तो करना है, पर हिंसा के शस्त्र से नहीं, प्रेम के द्वारा। ऐसी तमाम परिस्थितियों के लिए कई अहिंसात्मक उपायों का विधान होसकता है। ऐसे विधानों में उपवास एक रामबाण शस्त्र है, जिसका गांधीजी ने बार-बार प्रयोग किया। ✓

उपवास में कोई बलात्कार नहीं होता, यह कौन कहता है? पर बलात्कार होनेमात्र से ही तो हिंसा नहीं होसकती। प्रेम का भी तो बलात्कार होता है। प्रेम के प्रभाव में हम कभी-कभी अनिच्छापूर्वक भी काम कर लेते हैं। पर प्रेम के वश अनिच्छा से यदि हम कोई पाप करते हैं तो उससे बुराई होती है। यदि, अनिच्छापूर्वक ही सही, हम पुण्य करते हैं, तो समाज को उसका अच्छा फल मिल ही जाता है। असल बात तो यह है कि हिंसक नेता हमारी मानसिक निर्बलता का लाभ उठाकर अपने हिंसक शस्त्रों द्वारा हमें डराकर हमसे पाप कराता है। अहिंसक नेता हमारी धर्म-भीरुता को उकसाकर हमें अपने प्रेम से प्रभावान्वित करके हमसे पुण्य कराता है। इसका यह भी फल होता है कि पाप के नीचे हमारी दबी हुई अच्छी प्रवृत्तियां स्वतंत्र बनती हैं। इस तरह पहले जो काम प्रेम के बलात्कार से किया, वही हम अब अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से करने लगते हैं। परतंत्रता को खोकर इस तरह हम स्वतंत्रता प्राप्त कर लेते हैं। आदर्श स्थिति तो अवश्य ही वह होगी कि अहिंसात्मक नेता को कोई बल-प्रयोग करना ही न पड़े, पर ऐसी स्थिति तो सतयुग की ही होसकती है। महापुरुष के जन्म की पहली शर्त ही यह है कि समाज निर्बल है, अधर्म का जोर है, जुल्मों के मारे समाज त्रस्त है, उसे धर्म की प्यास है, जिसे मिटाने के लिए महापुरुष जन्म लेता है। यदि धर्म हो,

निर्बलता न हो, तो क्यों तो महापुरुष के आने की जरूरत हो और क्यों उपवास की आवश्यकता हो? क्यों उपदेश और क्यों सुशिक्षण की ही आवश्यकता हो?

पर इसके माने यह भी नहीं कि हर मनुष्य इस उपवास-रूपी अहिंसा-शस्त्र का उपयोग करने का पात्र है। अहिंसात्मक हिंसा, जिसका प्रयोग राम, कृष्ण इत्यादि ने और गांधीजी ने बछड़े पर किया, उसके लिए तो असाधारण पात्रता की जरूरत होती है, पर हिंसात्मक शस्त्र के लिए भी तालीम की जरूरत पड़ती है। तलवार, गदका, पटा, निशानेबाजी की कला सीखने की फौजी सिपाहियों को जरूरत होती है और उस तालीम के बाद ही वे अपने शस्त्रों का निपुणता से प्रयोग कर सकते हैं। इसी तरह उपवास के लिए भी, यदि अहिंसामय उपवास करना है तो, पात्रता की आवश्यकता है। सभी लोग अहिंसात्मक उपवास नहीं कर सकते। 'धरना' देना एक चीज है, धार्मिक उपवास दूसरी चीज। पर 'धरना' में धर्म कहां, और अहिंसा कहां? 'धरना' ज्यादातर तो निजी स्वार्थ के लिए होता है। पर कुछ उपवास पाखण्ड और विज्ञापनबाजी के लिए भी लोग करते हैं। ऐसे उपवासों से कोई विशेष बलात्कार न भी हो, तो भी उनको हम अधार्मिक उपवासों की श्रेणी में ही गिन सकते हैं। इसकी चर्चा का यह स्थान नहीं है। हम तो धार्मिक उपवास की ही चर्चा कर रहे हैं। यह समझना जरूरी है कि धार्मिक उपवास का जो प्रयोग करना चाहता है उसे पहले पात्रता सम्पादन करनी चाहिए। वह इसलिए कि हर धार्मिक उपवास में बलात्कार की सम्भावना रहती है। अधार्मिक उपवास में बलात्कार हो भी, तो लोग उसकी अवहेलना कर जाते हैं और अवहेलना करना भी चाहिए, क्योंकि उसमें बल-प्रयोग के पीछे कोई नीति या धर्म नहीं होता। इसलिए ऐसे उपवास करनेवालों के सामने झुकना भी अधर्म है। पर धार्मिक उपवास में चूंकि सफल बल-प्रयोग की सम्भावना है, उपवास करनेवाले को ज्यादा सावधानी और ज्यादा पात्रता की आवश्यकता होती है।

इसीलिए राजकोट के उपवास के बाद गांधीजी ने लिखा, "सत्याग्रह के शस्त्रागार में उपवास एक बलिष्ठ शस्त्र है। पर इसके सभी पात्र नहीं होते। जिसकी ईश्वर में सजीव श्रद्धा न हो, वह सत्याग्रही उपवास का अधिकारी नहीं होसकता। यह कोई नकल करने की चीज नहीं है। अत्यन्त अन्तर्वेदना हो तभी उपवास करना चाहिए, और इसकी आवश्यकता भी असाधारण मौकों पर ही होती है। ऐसा लगता है मानों मैं उपवास के लिए अधिक उपयुक्त बन गया हूं। हालांकि उपवास एक शक्तिशाली शस्त्र है, इसकी मर्यादाएं अत्यन्त कठोर हैं; इसलिए जिन्होंने इसका शिक्षण नहीं पाया उनके लिए उपवास कोई मूल्यवान चीज नहीं है। और जब मैं अपने माप-दण्ड से उपवासों को मापता हूं, तो मुझे लगता है कि अधिकतर उपवास जो लोग करते हैं वे सत्याग्रह की श्रेणी में आ ही नहीं सकते। वे तो महज 'धरना' या भूख-हड़ताल के नाम से ही पुकारे जाने चाहिएं।"

'अन्दरूनी आवाज' सुनने की तथा उपवासों की नकल कई लोगों ने अपने स्वार्थ के लिए की है। कुछ लोग पाखण्ड भी करते हैं। पर कौन-सी अच्छी वस्तु का दुरुपयोग नहीं हुआ? किसी चीज का दुरुपयोग होता है केवल इसीलिए वह चीज बुरी नहीं बन जाती। असल बात तो यह है कि हर चीज में विवेक की जरूरत है। इसलिए गांधीजी ने यद्यपि आकाशवाणी भी सुनी और कई उपवास भी किये, तो भी प्रायः अपने लेखों में इन दोनों चीजों के सम्बंध में वह सावधानी से काम लेने की लोगों को सलाह देते हैं। मैंने देखा है कि वह प्रायः 'अन्तर्नाद' की बात करनेवाले को शक की निगाह से देखते हैं और उपवास करनेवालों को प्रायः बिना अपवाद के निवारण करते हैं। और यह सही भी है।

गांधीजी का ध्यान करते ही हमारे सामने सत्याग्रह का चित्र उपस्थित होता है। जैसे दूध के बिना हम गाय की कल्पना नहीं कर सकते, वैसे ही सत्याग्रह के बिना गांधीजी की कल्पना नहीं होती। गांधीजी तो सत्याग्रह का अर्थ अत्यन्त व्यापक करते हैं। वह इसकी व्याख्या सविनय कानून-भंग तक ही सीमित नहीं करते। सविनय कानून-भंग सत्याग्रह का एक अंगमात्र है, पर हरिजन-कार्य भी उनकी दृष्टि से उतना ही सत्याग्रह है जितना कि सविनय कानून-भंग। चरखा चलाना भी सत्याग्रह है। सत्य, ब्रह्मचर्य, ये सारे सत्याग्रह के अंग हैं।

सत्याग्रह, अर्थात् सत्य का आग्रह। इसी चित्र को सामने रखकर सत्याग्रह-आश्रम के वासियों को सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अपरिग्रह, अभयत्व, अस्पृश्यता-निवारण, कायिक परिश्रम, सर्व-धर्म-समभाव, नम्रता, स्वदेशी, इन एकादश व्रतों का पालन करना पड़ता है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि ये एकादश व्रत ही सत्याग्रह के अंग हैं। सविनय कानून-भंग—नम्रता, सत्य, अहिंसा और अभयत्व के अन्तर्गत प्रकारान्तर से आजाता है। इसे कोई स्वतंत्र स्थान नहीं है। फिर भी साधारण जनता तो यही समझती है कि सत्याग्रह के माने ही हैं सविनय कानून-भंग। 'सविनय' का महत्त्व भी कम ही लोग महसूस करते हैं। सत्याग्रह का अर्थ है कानून-भंग, साधारण जनता तो इतना ही जानती है। आश्चर्य है कि इन चालीस सालों के निरन्तर प्रयत्न के बाद भी यह गलतफहमी चली ही जारही है। आमतौर से सभी तरह के अवैध विरोध का नाम आजकल सत्याग्रह पड़ गया है। जो लोग कानून-भंग में शुद्ध सत्याग्रह का आचरण नहीं करते, वे कानून-भंग को सत्याग्रह का नाम न देकर यदि महज 'निःशस्त्र प्रतिकार' कहें, तो सत्याग्रह की ज्यादा सेवा हो।

गांधीजी में यह शुद्ध सत्याग्रह बचपन से ही रहा है, पर सविनय आज्ञा-भंग का स्थूल दर्शन सर्वप्रथम अफ्रीका में होता है। अफ्रीका पहुंचते ही इन्हें प्रिटोरिया जाना था, इसलिए डरबन से प्रिटोरिया के लिए रवाना हुए। फर्स्ट क्लास का टिकट लेकर गाड़ी में आराम से जाकर बैठ गये। रात को नौ बजे एक दूसरा गोरा मुसाफिर उसी डिब्बे में आया। गांधीजी को उसने एड़ी से चोटी तक देखा और फिर बाहर जाकर एक रेलवे अफसर को लेकर वापस लौटा। अफसर ने आते ही कहा :

"उठो, तुम यहां नहीं बैठ सकते, तुम्हें दूसरे नीचे दर्जे के डिब्बे में जाना होगा।"

"पर मेरे पास तो फर्स्ट का टिकट है।"

"रहने दो बहस को, उठो, चलो दूसरे डिब्बे में।"

"मैं साफ कहे देता हूँ कि मैं इस डिब्बे से ऐसे नहीं निकलनेवाला हूं। मेरे पास टिकट है और अपनी यात्रा इसी डिब्बे में समाप्त करना चाहता हूं।"

"तुम सीधी तरह नहीं मानोगे। मैं पुलिस को बुलाता हूं।"

पुलिस कॉन्सटेबल आया। उसने गांधीजी को हाथ पकड़कर बाहर निकाल दिया और इनका सामान भी बाहर पटक दिया। इन्होंने दूसरे डिब्बे में जाना स्वीकार नहीं किया और गाड़ी इन्हें बिना लिये ही छूट गई। यह मुसाफिरखाने में चुपचाप जा बैठे। सामान भी रेल-वालों के पास ही रहा। रात को भयंकर जाड़ा पड़ता था, उसके मारे यह ठिठुरे जाते थे। "मैं अपने कर्त्तव्य का विचार करने लगा। क्या मुझे अपने हक-हकूकों के लिए लड़ना चाहिए? या अपमान को सहन करके भी प्रिटोरिया जाना चाहिए और मुकदमा समाप्त होने पर ही वहां से लौटना चाहिए? अपना कर्त्तव्य पूरा किये बिना भारत लौटना मेरी नामर्दी होगी। यह काले-गोरे के भेदभाव का रोग तो गहरा था। मेरा अपमान तो रोग का एक लक्षणमात्र था। मुझे तो रोग को जड़-

मूल से खोदकर नष्ट करना चाहिए और उस प्रयत्न में जो भी कष्ट आये उसे सहन करना चाहिए। यह निश्चय करके मै दूसरी गाड़ी से प्रिटोरिया के लिए रवाना हुआ।"

डरबन से प्रिटोरिया पहुंचने के लिए रेल से चार्ल्संटाउन पहुंचना था। वहांसे घोड़ा-गाड़ी की डाक थी, उसमें सफर करना और जोहॉन्स-बर्ग पहुंचकर वहांसे फिर रेल पकड़कर प्रिटोरिया पहुंचना था। 'गांधीजी दूसरी गाड़ी पकड़कर चार्ल्संटाउन पहुंचे। पर अब यहांसे फिर घोड़ा-गाड़ी की डाक में यात्रा करनी थी। रेल के टिकट के साथ ही उन्होंने घोड़ागाड़ी का टिकट भी खरीद लिया था। घोड़ा-गाड़ी के एजेण्ट ने जब देखा कि यह तो सांवला आदमी है, तो इनसे कहा कि तुम्हारा टिकट तो रद्द होचुका है। गांधीजी ने उसे उपयुक्त उत्तर दिया तो वह चुप होगया, पर मूल में जो कठिनाई काले-गोरे की थी वह कैसे दूर होसकती थी? गोरे यात्री तो सब गाड़ी के भीतर बैठे थे। इन्हें गोरों के साथ तो बिठाया नहीं जासकता था, इसलिए बग्घी का संचालक जो कोचमैन की बगल में बैठा करता था वह तो स्वयं भीतर बैठ गया और इन्हें कोचमैन की बगल में बिठाया।

यह अपमान था, पर गांधीजी इस जहर की घूंट को पी गये। गाड़ी चलती रही। कुछ घण्टे बीत गये। अब गाड़ी के संचालक को तम्बाकू पीने की इच्छा हुई, इसलिए उसने बाहर बैठने की ठानी। उसकी जगह तो गांधीजी बैठे थे और गांधीजी को भीतर बैठाया जा नहीं सकता था। इस समस्या को भी उसने गांधीजी का और अपमान करके ही हल करना निश्चय किया। कोचमैन की दूसरी तरफ एक गन्दी-सी जगह बची थी, उसकी तरफ लक्ष्य करके गांधीजी से कहा, "अब तू यहां बैठ, मुझे तम्बाकू पीना है।" यह अपमान असह्य था। गांधीजी ने कहा, "मेरा हक तो भीतर बैठने का था। तुम्हारे कहने से में यहां बैठा। अब तुम्हें तम्बाकू पीना है, इसलिए मेरी जगह भी तुम्हें चाहिए! मैं भीतर तो बैठ सकता हूं, पर और दूसरी जगह के लिए मैं अपना स्थान

चित्रकार

भूरसिंह, पिलानी

खाली नहीं कर सकता।" बस, इतना कहना था कि तपाक से उसन गांधीजी को तमाचा मारा। इनका हाथ पकड़कर इन्हें नीचे गिराने की कोशिश करने लगा। पर यह भी गाड़ी के डण्डे से चिपटकर अपने स्थान पर जमे रहे।

दूसरे यात्री यह तमाशा चुपचाप देखते थे। गाड़ी का संचालक इन्हें पीट रहा था, गालियां देरहा था, खींच रहा था और यह गाड़ी से चिपके हुए थे, पर शान्त थे। वह बलिष्ठ था, यह दुर्बल थे। यात्रियों को दया आई। एक ने कहा, "भाई, जाने भी दो, क्यों गरीब को मारते हो?" उसका क्रोध शान्त तो नहीं हुआ, पर कुछ शर्मा गया। इन्हें जहां-का-तहां बैठने दिया। गाड़ी अपने मुकाम पर पहुंची। वहांसे फिर रेल पकड़ी, पर फिर वही मुसीबत। गार्ड ने पहले इनसे टिकट मांगा, फिर बोला, "उठो, थर्ड में जाओ।" फिर झंझट शुरू हुई, पर एक अंग्रेज यात्री ने बीच में पड़कर मामला शान्त किया और यह सही-सलामत प्रिटोरिया पहुंचे।

सविनय आज्ञा-भंग का गांधीजी के लिए यह पहला पाठ था। उनकी इस वृत्ति का प्रथम दर्शन शायद यहींसे होता है। ऐसे मौके पर ऐसा करना चाहिए, यह शायद उन्होंने निश्चय नहीं कर रक्खा था। पर ऐन मौके पर अचानक विवेक-बुद्धि आज्ञा-भंग करने के लिए उभारती है और वह सविनय आज्ञा-भंग करते हैं। मार खाते हैं, पर मारनेवाले पर कोई क्रोध नहीं है। न इन्हें उसपर मुकदमा चलाने की रुचि होती है। इस तरह पहले पाठ का प्रयोग सफलतापूर्वक समाप्त होता है।

यह जो छोटी-सी चीज जाग्रत हुई, वह फिर बृहत् आकार धारण कर लेती है। पर यह कोरा आज्ञा-भंग नहीं है। 'सविनय' है, जो कि सत्याग्रह की एक प्रधान शर्त है। सत्याग्रह उनके लिए कोई राजनैतिक शस्त्र नहीं है। आदि से अन्ततक उनके लिए यह धार्मिक शस्त्र है, जिसका उपयोग वह राजनीति में, घर में, हर समय, हर हालत में करते हैं।

बा को एक मर्तबा बीमारी होती है। चिकित्सा से लाभ नहीं हुआ,

सरकार के संसर्ग में आये। इन सभी लड़ाइयों में या संसर्गों में सत्याग्रह की झलक मिलती है, पर मेरा खयाल है कि १९१४-१८ का यूरोपीय महाभारत, और उसी जमाने में किया गया चम्पारन-सत्याग्रह और वर्तमान यूरोपीय महाभारत, ये तीन प्रकरण इनके स्वदेश लौटने के बाद ऐसे हुए हैं कि जिनमें हमें शुद्ध सत्याग्रह का दिग्दर्शन होता है। अफ्रीका का सत्याग्रह-संचालन तो इनके अखंड आधिपत्य में हुआ था। इसलिए उस सत्याग्रह में शुद्ध सत्याग्रह की नीति का ही अनुसरण हुआ। पर १९२०-२२ और १९३०-३२ की लड़ाइयां विस्तृत थीं, और अधिनायकी इनकी होते हुए भी अनेकोंतक यह सत्याग्रह फैल गया था। उसका नतीजा यह हुआ कि सत्याग्रह सर्वांश में सत्याग्रह न रहा। इन लड़ाइयों में सत्याग्रह के साथ-साथ दुराग्रह भी चला।

यह सही है कि लोग शरीर से कोई हिंसा नहीं करते थे। पर जबान और दिल में जहर की कमी न थी।

इटली और तुर्की के बीच कई साल पहले जब युद्ध छिड़ा तब अकबर साहब ने लिखा था:

> न सीने में जोर है न बाजू में बल,
> कि टरकी के दुश्मन से जाकर लड़ें;
> तहेदिल से हम कोसते हैं मगर
> कि इटली की तोपों में कीड़े पड़ें।

ऐसे सैकड़ों सत्याग्रही थे, जिनके बारे में थोड़ेसे हेरफेर के साथ यह शेर कहा जा सकता था। 'इंग्लैंड के फेफड़ों में कीड़े पड़ें' ऐसी मिन्नत मनानेवालों की भी क्या कमी थी! पर पिछले यूरोपीय महाभारत और वर्तमान यूरोपीय युद्ध में (युद्ध तो जारी ही है) इनकी जो नीति रही वह शुद्ध गांधीवाद का प्रदर्शन हुआ है।

१२

पिछला यूरोपीय युद्ध और वर्तमान यूरोपीय युद्ध ये ऐसी बड़ी घटनाएं हैं, जिन्होंने संसार के हर पहलू को प्रभावान्वित किया है और भविष्य में करेंगी। असल में तो वर्तमान युद्ध के जन्म के पीछे छिपा हुआ कारण तो पिछला युद्ध ही है और ये दोनों युद्ध संसार की बृहत् बीमारी के चिह्नमात्र हैं। बीमारी तो कुछ दूसरी ही है। मालूम होता है कि जैसे पृथ्वी के गर्भ में तूफान उठता है उसे हम देख नहीं पाते और भूकम्प होने पर ही हमें उसकी खबर होती है, वैसे ही मानव-समाज में भी जो आग भीतर-ही-भीतर वर्षों से दहक रही थी उसे हमने युद्ध होने पर ही सम्यक् प्रकार से देखा है। पिछला युद्ध एक तरहका भूकम्प था। प्रेसीडेंट विलसन ने उस भूकम्प का निदान किया। बरतानिया के प्रधानमंत्री लायड जार्ज को भी स्थिति स्पष्ट दिखाई दी। पर दोनों की मानसिक निर्बलता ने इन्हें लाचार बना दिया। विजय के मद में ये लोग रोग को भूल गये। रोग की चिकित्सा न करके लक्षणों को दबाने की कोशिश की गई। नतीजा यह हुआ कि एक जबर्दस्त विस्फोटक मानव-समाज के अंग में फूट निकला है, जिसके दर्द के मारे सारी सृष्टि व्याकुलता से कराह रही है।

इन दोनों महाभारतों में गांधीजी ने क्या किया, यह एक अध्ययन करनेलायक चीज है। गांधीजी की राजनीति में धर्मनीति प्रधान होती है। यूरोपीय महाभारतों से बढ़कर दूसरा राजनीति का प्रकरण इस सदी में और कोई नहीं हुआ। इन दोनों राजनैतिक प्रकरणों में गांधीजी ने राजनीति और धर्म का कैसे समन्वय किया, यह एक समालोच्य विषय होसकता है। पर हर हालत में वह गांधीजी के व्यक्तित्व पर एक तेज प्रकाश डालता है। गांधीजी की प्रथम यूरोपीय युद्ध के बाद की नीति में इतना फर्क अवश्य पड़ा है कि इंग्लैंड के राज्यशासन में जो इनका अटूट

विश्वास था वह मिट गया। पर उसके मिटने से पहले इन्हें कई आघात लगे, जिन्होंने उस विश्वास की सारी बुनियाद को तहस-नहस कर दिया।

"ब्रिटिश राज्य-शासन में मेरी जितनी श्रद्धा थी उससे बढ़कर किसीकी हो ही नहीं सकती थी। मैं अब सोचता हूं, तो मुझे लगता है कि इस राजभक्ति की जड़ में तो मेरी सत्यप्रियता ही थी। मैं ब्रिटिश शासन के दुर्गुणों से अनभिज्ञ न था, पर मुझे उस समय ऐसा लगता था कि गुण-अवगुणों के जमा-खर्च के बाद ब्रिटिश शासन का जमा-पक्ष ही प्रबल रहता था अफ्रीका में मैंने जो रंग-भेद पाया वह मुझे ब्रिटिश स्वभाव के लिए अस्वाभाविक चीज लगती थी। मैंने माना था कि वह स्थानीय थी और अस्थायी थी, इसलिए राज-कुटुम्ब के प्रति आदर-प्रदर्शन करने में मैं हर अंग्रेज से बाजी मारता था। पर मैंने इस राजभक्ति से कभी स्वार्थ नहीं साधा। मैंने तो ऐसा माना कि राजभक्ति द्वारा मैं एक ऋणमात्र अदा कर रहा हूं।"

ये इनके प्राचीन भाव थे। फिर जब इन्होंने सरकार के लिए 'शैतानी' शब्द की रचना की, तबतक विचारों में परिवर्तन होचुका था। पर सरकार 'शैतानी' होगई तो भी कार्य-पद्धति में कोई परिवर्तन न हुआ, क्योंकि इन्हें शैतान से भी तो दुश्मनी नहीं है। एक बार मैंने कहा, "अमुक मनुष्य बड़ा दुष्ट है। आप क्यों उसे अपने पास रखते हैं?" गांधीजी ने उत्तर में कहा, "मैं तो चाहता हूं कि शैतान भी मेरे पास बैठे, पर वह मेरे पास रहना पसंद ही नहीं करता।" इसलिए राजभक्ति तो काफूर हुई, पर सल्तनत के हृदय-परिवर्तन की चाह न मिटी। जिस स्वराज्य की प्राप्ति 'ऋण अदा करके' होनेवाली थी, उसकी प्राप्ति अब 'हृदय-परिवर्तन' द्वारा होने की चाह लगी। पर स्वयं कष्ट-सहन करने की नीति और अन्य तत्सम चीजें ज्यों-की-त्यों हैं।

४ अगस्त १९१४ को लड़ाई का ऐलान हुआ। ६ अगस्त को गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका से इंग्लैंड में पदार्पण किया। लन्दन पहुंचते ही पहला ध्यान इनका अपने कर्तव्य की ओर गया। कुछ भारतीय मित्र

उस समय इंग्लैंड में थे। उनकी एक छोटी-सी सभा बुलाई और उनके सामने कर्तव्य-सम्बन्धी अपने विचार प्रकट किये। इन्हें लगा कि जो हिंदुस्तानी भाई इंग्लैंड में रहते थे, उन्हें सहायता देकर अपना कर्त्तव्य-पालन करना चाहिए। अंग्रेज विद्यार्थी फौज में भरती होरहे है। भारतीय विद्यार्थियों को भी ऐसा ही करना चाहिए, यह इनकी राय थी। "पर दोनों की स्थितियों में क्या तुलना है? अंग्रेज मालिक हैं, हम गुलाम हैं। गुलाम क्यों सहयोग दें? जो गुलाम स्वतंत्र होना चाहता है उसके लिए तो स्वामी का संकट ही अवसर है।" पर यह दलील उस समय गांधीजी को नहीं हिला सकी। आज भी ऐसी दलील का उनपर कोई असर नहीं होता।

"मुझे अंग्रेज और हिंदुस्तानी दोनों की हैसियत के भेद का संपूर्ण ज्ञान था, पर मैंने यह नहीं माना था कि हम गुलामों की हैसियत में पहुंच गये थे। मुझे लगता था कि यह सारा दोष ब्रिटिश शासन का नहीं, पर व्यक्तिगत अफसरों का था, और मेरा विश्वास था कि यह परिवर्तन प्रेम से ही संपादन किया जा सकता था। यदि हमें अपनी अवस्था का सुधार वांछनीय था, तो हमारा फर्ज था कि हम अंग्रेजों को उनके संकट में मदद करें और उनका हृदय पलटायें।"

पर विरोधी मित्रों की ब्रिटिश सल्तनत में वह श्रद्धा नहीं थी जो गांधीजी की थी, इसलिए वे सहयोग देने को उत्सुक नहीं थे। आज वह श्रद्धा गांधीजी की भी नहीं रही, इसलिए गांधीजी के सहयोग का अभाव है। पर 'अंग्रेजों का संकट हमारा अवसर है' इस दलील को आज भी गांधीजी स्वीकार नहीं करते। मित्रों ने उस समय कहा, "इस समय हमें अपनी मांगें पेश करनी चाहिएं।" पर गांधीजी ने कहा, "यह ज्यादा सुंदर होगा और दूरदर्शिता भी होगी कि हम अपनी मांगें लड़ाई के बाद पेश करें।" अबकी बार मांगें पेश की गई हैं, पर तो भी अंग्रेजों के संकट की चिंता से गांधीजी मुक्त नहीं हैं। वह उनके लिए किसी तरह की परेशानी पैदा करना नहीं चाहते। प्रथम और द्वितीय यूरोपीय युद्धों के प्रति इनकी मनोवृत्ति में जो सूक्ष्म सादृश्य बराबर नजर आता है, वह अध्ययन

करनेलायक है ।

अंत में लन्दन में वालंटियरों की एक टुकड़ी खड़ी की गई । उस समय के भारत-मंत्री लार्ड क्रू थे । उन्होंने बड़ी अगर-मगर के बाद उस टुकड़ी की सेवा स्वीकार करने की सम्मति दी । अंग्रेजों में तब भी हमारे प्रति अविश्वास था, जो आजतक ज्यों-का-त्यों बना हुआ है ।

गांधीजी के साथियों ने जब दक्षिण अफ्रीका में सुना कि गांधीजी ने स्वयंसेवकों की एक टुकड़ी लड़ाई में सहायता देने के लिए खड़ी की है, तब उन्हें अत्यन्त आश्चर्य हुआ । एक ओर अहिंसा की उपासना और दूसरी ओर लड़ाई में शरीक होना ! गांधीजी की इन दो परस्पर-विरुद्ध मनोवृत्तियों ने इनके साथियों को उलझन में डाल दिया ।

युद्ध की नैतिकता में इन्हें कतई विश्वास न था । "यदि हम अपने घातक के प्रति भी क्षमा का पालन करते हैं, तो फिर ऐसे युद्ध में जिसमें हमें यह पूरा पता भी न हो कि धर्म किसकी ओर है, कैसे किसीका पक्ष लेकर लड़ सकते हैं ?"

पर इसका उत्तर गांधीजी यों देते हैं :

"मुझे यह अच्छी तरह ज्ञात था कि युद्ध और अहिंसा का कभी मेल नहीं हो सकता । पर धर्म क्या है और अधर्म क्या है, इसका निर्णय इतना सरल नहीं होता । सत्य के उपासक को कभी-कभी अंधकार में भी भटकना पड़ता है । अहिंसा एक विशाल धर्म है । 'जीवो जीवस्य जीवनम्' इस वाक्य का अत्यन्त गूढ़ अर्थ है । मनुष्य एक क्षण भी जाने-अनजाने हिंसा किये बिना जीवित नहीं रहता । जिन्दा रहने की क्रियामात्र—खाना, पीना, डोलना—जीव का हनन करती है, चाहे वह जीव अणु जितना ही छोटा क्यों न हो । इसलिए जीवन स्वयं ही हिंसा है । अहिंसा का पूजक ऐसी हालत में अपने धर्म का यथार्थ पालन उसी दशा में कर सकता है, जबकि उसके तमाम कर्मों का एक ही स्रोत हो । वह स्रोत है दया । अहिंसावादी भरसक जीवों की रक्षा करने की कोशिश करता है और इस तरह वह हिंसाके पापमय फंदे से बचता रहता है । उसका कर्तव्य होता है कि वह

इंद्रिय-निग्रह और दया-धर्म की वृद्धि करता रहे। पर मनुष्य हिंसा से पूर्णतः मुक्त कभी हो ही नहीं सकता। आत्मा एक है और सर्वत्र व्याप्त है। इसलिए एक मनुष्य की बुराई का असर प्रकारांतर से सभीपर होता है। इस न्याय से भी मनुष्य हिंसा से सर्वथा मुक्त नहीं होसकता। दूसरी बात यह है कि जबतक समाज का वह एक अंग है, तबतक समाज की हस्ती के लिए भी जो हिंसा होती है उसका वह भागीदार तो है ही। जब दो राष्ट्रों में युद्ध होता है तब अहिंसा के उपासक का प्रथम धर्म तो है युद्ध को बंद कराना। पर जो इसके लिए अयोग्य है, जो युद्ध रोकने की शक्ति भी नहीं रखता, वह चाहे युद्ध में शरीक तो हो, पर साथ ही राष्ट्रों को, संसार को और अपनेआपको युद्ध से मुक्त करने का प्रयत्न भी निरंतर करता रहे।"

गांधीजी के तबके और आज के विचारों में कोई फर्क नहीं है, चाहे कार्यक्रम की बाहरी सूरत कुछ भिन्न मालूम देती हो। 'अहिंसा का पूजक अपने धर्म का पालन पूर्णतया तभी कर सकता है जबकि उसके कर्ममात्र का स्रोत केवल दया ही हो।' यह वाक्य उनके तमाम निर्णयों के लिए नाव के पतवार का-सा काम देता है। पर उस युद्ध में शरीक होने में एक और दलील थी--

"मैं अपने स्वदेश की स्थिति ब्रिटिश सल्तनत की सहायता से सुधारने की आशा करता था। मैं इंग्लैंड में ब्रिटिश नाविक सैन्य की सहायता से सुरक्षित था। चूंकि मैं इंग्लैंड की छत्रछाया में सुरक्षित था, एक प्रकार से मैं इंग्लैंड की हिंसा में भी शरीक था। मैं इंग्लैंड से अपना नाता तोड़ने को यदि तैयार न था, तो इस हालत में मेरे लिए तीन ही मार्ग खुले थे: या तो युद्ध के विरुद्ध बगावत करना और सत्याग्रह-धर्म के अनुसार जबतक इंग्लैंड अपनी नीति को न त्याग दे तबतक इंग्लैंड की शहंशाहत से असहयोग करना, अथवा कानून-भंग करके जेल जाना, अथवा ब्रिटिश राष्ट्र को जंग में सहायता देना और ऐसा करते-करते युद्ध की हिंसा के प्रतिकार की शक्ति प्राप्त करना। चूंकि मैं प्रथम दो मार्गों के अनुसरण के लिए अपनेआपको अयोग्य पाता था, मैंने अंतिम मार्ग ग्रहण किया।"

यह तर्क कुछ लूला-सा लगता है; पर गांधीजी किस तरह निर्णय पहले करते हैं और दलील पीछे उपजाते हैं, इसकी चर्चा आगे करेंगे। पर तर्क अकाट्य न भी हो तो न सही, गांधीजी की आत्मा को जिस समय जो सत्य जंचा उसीके पीछे वह चले हैं। उनके तर्कों में जान-बूझकर आत्मवंचना नहीं होती। असल बात तो यह थी कि उनकी ब्रिटिश शासन-पद्धति में बेहद श्रद्धा थी। दक्षिण अफ्रीका में उनके साथ इतना दुर्व्यवहार हुआ, तो भी उनका धीरज और उनकी श्रद्धा अडिग रही। बोअर-लड़ाई में और ज़ूलू-बलवे में यद्यपि उनकी सहानुभूति बोअरों और ज़ूलू लोगों की तरफ थी, तो भी अंग्रेजों को सहायता देना ही उन्होंने अपना धर्म माना। इस सहायता के बाद भारतीयों की स्थिति समझने के लिए उपनिवेश-मंत्री जोसेफ चेम्बरलेन जब अफ्रीका आये और हिंदुस्तानियों की प्रतिनिधि-मंडली उनसे मिलने के लिए प्रबंध करने लगी, तो उन्होंने साफ कहला दिया कि और सब आयें, पर गांधी को नेता बनाकर न लाया जाय। उनसे एक बार मुलाकात होचुकी है, अब बार-बार उनसे नहीं मिलना है।"

अंग्रेजों की यह पुरानी वृत्ति आजतक ज्यों-की-त्यों जिन्दा है।

गोलमेज परिषद् हुई तब भारतीय प्रतिनिधिगण भारतीयों द्वारा चुने हुए नुमाइंदे नहीं थे, पर सरकार द्वारा नियुक्त किये हुए थे। सरकार ने हमें शांति दी, रक्षा दी, परतंत्रता दी, तो फिर नुमाइंदे भी वही नियुक्त क्यों न करे? आज भी कांग्रेस और ब्रिटिश सल्तनत में इसी सिद्धांत पर बहस चालू है। सरकार कहती है, लड़ाई के बाद तमाम जातियों, समाजों और फिरकों के नुमाइंदों से हिंदुस्तान के नये विधान के संबंध में सलाह-मशवरा करेंगे। कौन जातियां हैं, कौनसे समाज हैं और कौनसे फिरके हैं, इसका निर्णय भी सरकार ही करेगी। प्रांतीय सरकारें चुने हुए नुमाइंदों द्वारा संचालित होरही थीं। पर वे नुमाइंदे अपने घर रहें। सरकार तो अपनी आवश्यकता देखकर नये नुमाइंदे पैदा करती है। गांधी दक्षिण अफ्रीका में हिंदुस्तानियों का प्रतिनिधि बनकर चेम्बरलेन से मिले, यह अनहोनी बात कैसे बर्दाश्त होसकती है; इसलिए

गांधी नहीं मिल सकता ।

पर गांधीजी पर इसका भी कोई बुरा असर नहीं हुआ। जब यूरोपीय युद्ध शुरू हुआ, तब फिर सहायता दी। बाद में पंजाब में खून-खराबी हुई, रौलट कानून बना, जलियांवाला बाग आया। गांधीजी की श्रद्धा फिर भी जीवित रही। नये सुधार आते हैं, तब गांधीजी उन्हें स्वीकार करने के पक्ष में जोर लगाते हैं। ऐसी गांधीजी की श्रद्धा और अहिंसा है—

जो तोको कांटा बुवे, ताहि बोय तू फूल;
तोको फूल के फूल हैं, वाको है तिरसूल ।

गांधीजी की यह मनोवृत्ति एकधार, अखंडित, शुरू से आखिर-तक जारी है। हालांकि ब्रिटिश राज्य की नेकनीयती में उनकी श्रद्धा अब उठ गई है, फिर भी व्यवहार वही प्रेम और अहिंसा का है। गांधीजी अब भी 'फूल बोने' में मस्त हैं।

यह उनकी ब्रिटिश शासन की नेकनीयती में श्रद्धा ही थी, जिसके कारण उन्होंने गत युद्ध में सहायता दी। उनकी दलील तो निर्णय के बाद बनती है, इसलिए पंगु-जैसी लगती है। पर चूंकि लड़ाई में सरकार को सहायता देना यह उस समय गांधीजी को अपना धर्म लगा, उन्होंने मर्यादा के भीतर सहायता देने का निश्चय किया। बोअर-लड़ाई में और जूलू-विप्लव में गांधीजी की सहानुभूति बोअरों और जूलू लोगों के साथ होते हुए भी उन्होंने माना कि अंग्रेजों को सहायता देना उनका धर्म था, इसलिए सहायता अंग्रेजों को दी। ऐसी असंगति कोई आश्चर्य की बात नहीं है। एक कर्म जो एक समय धर्म होता है, वही कर्म अन्य समय में अधर्म होसकता है। इसीलिए यह कहा है कि धर्म की गति गहन है।

ऐसी ही एक असंगति की कहानी हमें महाभारत में मिलती है। महाभारत-युद्ध की जब सब तैयारी होजाती है और योद्धा आमने-सामने आकर खड़े होते हैं, तब युधिष्ठिर भीष्म पितामह के पास जाकर प्रणाम करते हैं और युद्ध के लिए उनकी आज्ञा मांगते हैं। युधिष्ठिर की इस विनय से भीष्म अत्यंत प्रसन्न होते हैं और कहते हैं, "पुत्र, तू युद्ध कर और

जय प्राप्त कर। मैं तुझपर प्रसन्न हूं। और भी जो कुछ चाहता हो वह कह, तेरी पराजय नहीं होगी।" इतनी आशीष दी, पर युद्ध तो भीष्म पितामह को दुर्योधन की ओर से ही करना था, इसलिए असंगति को समझाते हुए कहा, मैंने कौरवों का अन्न खाया है इसलिए युद्ध तो उन्हींकी ओर से करूंगा, बाकी तो जो तुम्हें चाहिए वह अवश्य मांगो।"

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्य महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवः॥

"हे महाराज! सच तो यह है कि पुरुष अर्थ का दास है और अर्थ किसीका दास नहीं, इसलिए मैं कौरवों से बंधा पड़ा हूं।"

भीष्म पितामह के लिए तो कैसा अर्थ और कैसा बंधन? पर बात तो यह है कि यहां अर्थ से भी मतलब धर्म से ही है। भीष्मजी का कहना था कि मैं धर्म से बंधा हूं, इसलिए युद्ध तो मैं कौरवों की तरफ से ही करूंगा, बाकी मेरा पक्ष तो तुम्हारी तरफ है।

हजारों साल के बाद एक दूसरा महाभारत यूरोप में होता है। गांधीजी कहते हैं, "मैं युद्ध के पक्ष में नहीं, पर चूंकि इंग्लैंड की सुरक्षा में पला हूं, इसलिए मेरा धर्म यह है कि मैं इंग्लैंड की सहायता करूं।" हजारों साल के बाद इतिहास की पुनरावृत्ति का यह एक अनुपम उदाहरण है।

गत यूरोपीय युद्ध चार साल तक चला और उसमें मित्रराष्ट्रों को जान लड़ाकर युद्ध करना पड़ा। कई उतार-चढ़ाव आये। भारतवर्ष में गांधीजी ने जिस खालिस मन से इंग्लैंड को सहायता दी उतनी सरलता से शायद ही किसीने दी हो। कई नेता तो विपक्ष में भी थे, पर ज्यादातर तटस्थ थे। लोकभावना में भी जब और तब में कितना सादृश्य है, यह देखनेलायक चीज है।

लड़ाई के जमाने में वाइसराय चेम्सफोर्ड ने तमाम नेताओं और रईस लोगों की एक युद्ध-सभा बुलाई। गांधीजी को भी निमंत्रण मिला। कुछ हिचकिचाहट और अगर-मगर के साथ गांधीजी ने सभा में शरीक होने का निश्चय किया। सभा में जो प्रस्ताव था उसके समर्थन में गांधीजी

ने हिन्दी में केवल इतना ही कहा, "मैं इसकी ताईद करता हूं ।" पर जो उन्हें कहना था, वह पत्र द्वारा वाइसराय को लिखा । वह पत्र भी देखने-लायक है--

"मैं मानता हूं कि इस भयंकर घड़ी में ब्रिटिश राष्ट्र को--जिसके कि अत्यंत निकटभविष्य में हम अन्य उपनिवेशों की तरह साझेदार बनने की आशा लिये बैठे हैं--हमें प्रसन्नतापूर्वक और स्पष्ट सहायता देनी चाहिए। पर यह भी सत्य है कि हमारी इस मंशा के पीछे यह आशा है कि ऐसा करने से हम अपने ध्येय को शीघ्र ही पहुंच जायेंगे । कर्त्तव्य का पालन करने से अधिकार अपनेआप ही मिल जाते हैं, और इसलिए लोगों को विश्वास है कि जिस सुधार की चर्चा आपने की है उसमें कांग्रेस-लीग की योजना को आप पूरी तरह से स्वीकार करेंगे । कई नेताओं का ऐसा विश्वास है और इसी विश्वास ने सरकार को पूर्ण सहायता देने पर नेताओं को आमादा किया है ।"

गांधीजी के पत्र का यह एक अंश है । कितना निर्मल विश्वास ! उस समय हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य था । आज की तरह साम्प्रदायिक अनैक्य की दुहाई देने की कोई गुंजाइश न थी । लीग और कांग्रेस दोनों ने सम्मिलित योजना गढ़कर सरकार के सामने पेश की थी । पर सरकार ने उसे महत्त्व नहीं दिया । उसे अस्वीकार किया और इस तरह सारी आशाएं निष्फल हुईं । जो लोग यह मानते हैं कि हिन्दू-मुस्लिम अनैक्य ही भारत को स्वतंत्रता देने के लिए इंग्लैंड के मार्ग में बाधक है, उनके लिए यह पुरानी कहानी एक सबक है ।

आगे चलकर गांधीजी ने लिखा, "यदि मैं अपने देशवासियों को समझा सकूं तो उनसे यह करवाऊं कि जंग के जमाने में वे स्वराज्य का नाम भी न लें ।"

वर्तमान युद्ध के आरम्भ में जब गांधीजी वाइसराय लिनलिथगो से मिले तो उसके बाद उन्होंने अपने एक वक्तव्य में कहा, "मुझे इस समय इस देश की स्वाधीनता का कोई खयाल नहीं है । स्वतंत्रता तो आयेगी ही, पर वह किस काम की, यदि इंग्लैंड और फ्रांस मर मिटें या मित्रराष्ट्र
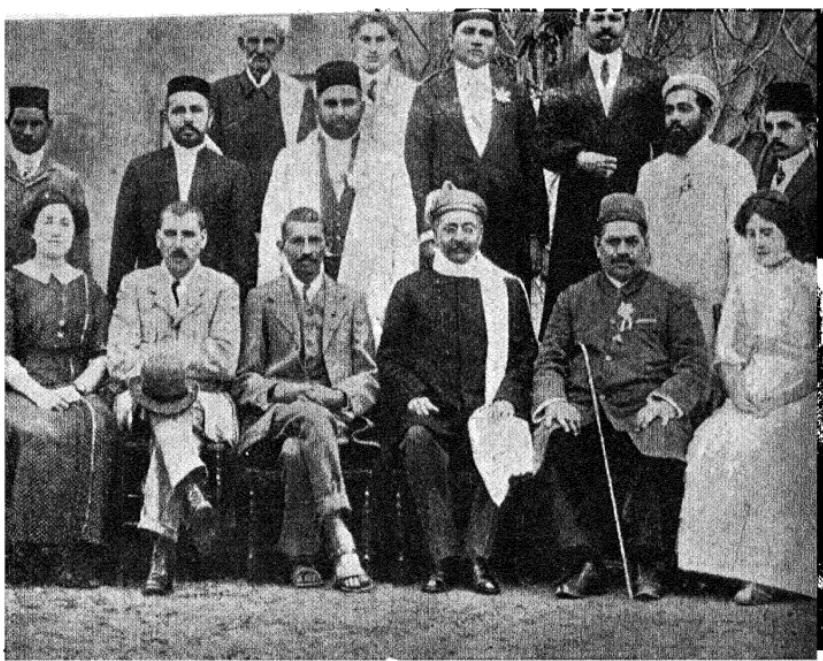
गोखले के स्वागत में--दक्षिण अफ्रीका (सन् १९१२)
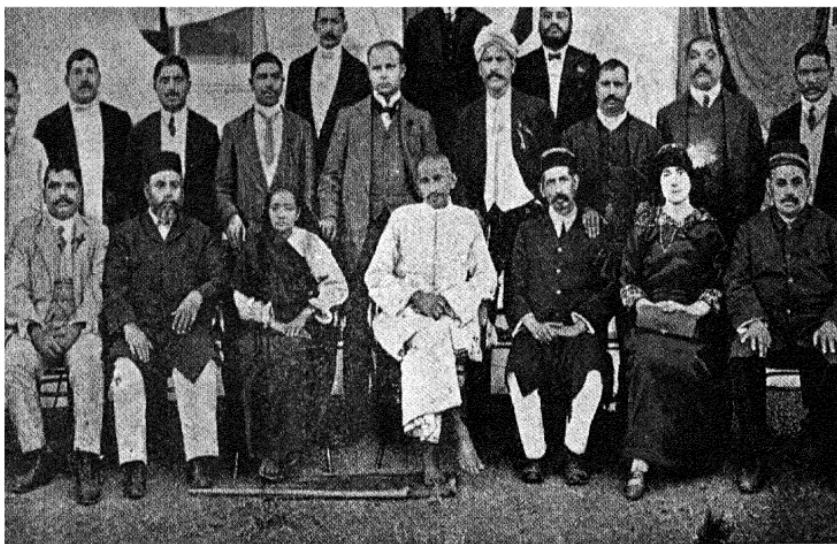
दक्षिण अफ्रीका से बिदाई (सन् १९१४)

जर्मनी को तबाह और दीन करके जीतें ?" इन दोनों उक्तियों में भी वही सादृश्य जारी है ।

आगे चलकर गांधीजी ने वाइसराय चेम्सफोर्ड को लिखा—"मैं चाहता हूं कि भारत हर हट्टे-कट्टे नौजवान को ब्रिटिश राष्ट्र की रक्षा के लिए होम दे । मुझे यकीन है कि भारत का यह बलिदान ही उसे ब्रिटिश साम्राज्य का एक आदरणीय साझेदार बना देने के लिए पर्याप्त होगा । इस संकट के समय यदि हम साम्राज्य की जीजान से सेवा करें और उसकी भय से रक्षा करदें, तो हमारा यह कार्य ही हमें हमारे ध्येय की ओर शीघ्रता से लेजायगा । अपने देशवासियों को मैं यह महसूस कराना चाहता हूं कि साम्राज्य की सेवा यदि हमने करदी, तो उस क्रिया में से ही हमें स्वराज्य मिल गया, ऐसा समझना चाहिए ।"

आश्चर्य है कि गांधीजी ने उस समय जिस भाषा का उपर्युक्त उक्ति में प्रयोग किया, करीब-करीब वही भाषा आज सरकारी हलकों द्वारा हमारी मांगों के संबंध में प्रयोग की जाती है । वे कहते हैं कि इस समय केवल जंग की ही बात करो, और जी-जान से हमारा पक्ष लेकर लड़ो । बस, इसीमें तुम्हें स्वराज्य मिल जायगा । गत युद्ध में भी सरकार की तरफ से कहा गया था कि इस समय हमें सारे घरेलू झगड़ों को भूलकर युद्ध में दत्तचित्त होजाना चाहिए, और गांधीजी ने वैसा ही किया भी । भारत ने अपने नौजवानों की बलि भी चढ़ाई । धन को भी साम्राज्य-रक्षा के लिए फूंका । पर उससे भारत को स्वतंत्रता नहीं मिली । युद्ध के अंत में जब जलियांवाला बाग आया, तब गांधीजी का यह विश्वास और श्रद्धा चल बसे, पर तो भी व्यवहार में कोई फर्क नहीं पड़ा ।

वर्तमान यूरोपीय युद्ध नम्बर दो में गांधीजी ने जिस नीति का अवलंबन किया है, वह भी शुद्ध सत्याग्रह है । पिछले युद्ध में ब्रिटिश साम्राज्य की मनोवृत्ति में उन्हें जो श्रद्धा थी, वह अब नहीं रही । पर सत्याग्रह की नीति ही उनके मतानुसार यह है कि जितनी ही अधिक बुराई विपक्ष में हो, उतना ही ज्यादा हमें अहिंसामय होने की जरूरत पड़ती है । इसलिए

यद्यपि गांधीजी का असहयोग तो जारी है; पर इस संकट-काल में इंग्लैंड जरा भी तंग हो ऐसा कोई भी कार्य करना उन्हें रुचिकर नहीं है। नतीजा यह हुआ है कि ज्यों-ज्यों इंग्लैंड की शक्ति कम होती गई, त्यों-त्यों गांधीजी इस बात का ज्यादा खयाल करने लगे कि ब्रिटिश सरकार को किसी तरह हमारी ओर से परेशानी न हो।

पर पिछले युद्ध और इस युद्ध में एक और फर्क है और उस फर्क के कारण गांधीजी का युद्ध में शरीक होना या न होना, इस निर्णय पर काफी असर पड़ा है।

गत युद्ध में हम बिलकुल पराधीन थे, हमारी कोई जिम्मेदारी नहीं थी, हमारी कोई पूछ नहीं थी। हम उपद्रव करके अंग्रेजों को सहायता मिलने में कुछ हदतक रुकावट अवश्य डाल सकते थे, किंतु यह कार्य सत्याग्रही नीति और गांधीजी की अहिंसा-नीति के खिलाफ होता। पर रुकावट डालना एक बात थी और सक्रिय सहायता देना दूसरी बात। रुकावट न डालते हुए भी सक्रिय सहायता देने में हम असहयोग कर सकते थे, तो भी गांधीजी ने सक्रिय सहायता देना ही अपना धर्म माना। "हम जब इंग्लैंड द्वारा सुरक्षित हैं और खुशी-खुशी उस सुरक्षा को स्वीकार करते हैं, तब तो हमारा धर्म होजाता है कि हम अंग्रेजों को सक्रिय सहायता दें और उनकी ओर से शस्त्र लेकर लड़ें भी।" पर इस तर्क में आज की स्थिति में कोई प्राण नहीं है। क्योंकि तबकी और अबकी परिस्थिति में काफी अंतर पड़ गया है। इसलिए वह पुरानी दलील आज की स्थिति में लागू नहीं होती।

इस बार युद्ध छिड़ा तब प्रांतों में प्रांतीय स्वराज्य था और उनमें से आठ प्रांतों में तो स्वराज्य की बागडोर कांग्रेस के हाथ में थी। एक और प्रांत में भी, अर्थात् सिंध में, आधी-पड़धी बागडोर कांग्रेस के हाथ में थी। इस तरह कुल नौ प्रांतों में कांग्रेस का आधिपत्य था। केंद्र में भी स्वराज्य का वादा होचुका था। और अनुमान से भी यह कहा जासकता है कि हम पूर्ण स्वराज्य के काफी निकट पहुंच गये हैं। इसलिए आज 'उन्हींकी दी हुई रक्षा से हम सुरक्षित हैं' ऐसा नहीं कहा जासकता। आज हम

इस योग्य बन गये हैं कि हम अपनी ही रक्षा से भी सुरक्षित हो सकते हैं। हम गत युद्ध के समय जितने पराधीन थे उतने आज पराधीन नहीं हैं। हमें यह कहने का नैतिक स्वत्व--कानूनी न सही--अवश्य है कि हम अपनी रक्षा किस तरह करेंगे, कैसे करेंगे। जहां इंग्लैंड को परेशान न करना गांधीजी ने अपना धर्म माना वहां यह निश्चय करना भी उनका धर्म होगया कि भारतवर्ष पर आक्रमण हो तो उस आक्रमण का मुकाबला--प्रतिरोध--हिंसात्मक उपायों द्वारा करना या अहिंसात्मक उपायों द्वारा। हम मारते-मारते मरें या बिना मारे भी मरना सीखें। तमाम परिस्थिति पर ध्यानपूर्वक सोच-विचार के बाद गांधीजी ने युद्ध छेड़ा तभी यह निश्चय कर लिया था कि उग्र हिंसा का सामना अहिंसा से ही होसकता है। अबीसीनिया, स्पेन और चीन के युद्ध में विपद्ग्रस्त राष्ट्रों को गांधीजी ने अहिंसा की ही सीख दी थी। जो सलाह अन्य विपदग्रस्त राष्ट्रों को दी गई थी, क्या उससे विपरीत सलाह अपने देशवासियों को दें ?

गांधीजी की दृष्टि से अहिंसा की जीवित कसौटी का समय आचुका था। यदि अहिंसा के प्रयोग की सक्रिय सफलता का प्रदर्शन करना है, तो इससे उत्तम अवसर और क्या होसकता था ? नैतिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से युद्ध छिड़ने से पहले ही गांधीजी इस निर्णय पर पहुंच चुके थे कि इतनी उग्र और सुव्यवस्थित हिंसा का सामना कम-से-कम हिंदुस्तान तो हिंसात्मक उपायों द्वारा कर ही नहीं सकता। उसके पास इतने उग्र साधन ही कहां हैं, जो सुव्यवस्थित मुल्कों के शस्त्रास्त्रों से मुठभेड़ ले सके ? पर यह तो गौण बात थी। प्रधान बात तो यह थी, "क्या हम भयंकर हिंसा का अहिंसा से सफल मुकाबला करके संसार के सामने एक धार्मिक शस्त्र का प्रदर्शन नहीं कर सकते ?" और इसी विचार ने गांधीजी को इस निर्णय पर पहुंचाया कि भारत और इंग्लैंड के बीच समझौता होने पर अंग्रेजों को नैतिक सहयोग अवश्य दिया जाय, पर कम-से-कम कांग्रेस हिंसा में शरीक होकर अपनी नैतिक ध्वजा को झुकने न दे।

कांग्रेस के दिग्गज इस नीति की उत्तमता को महसूस करते थे,

पर इस मार्ग पर पांव रखने में ही हिचकते थे। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य जैसे तीक्ष्ण बुद्धिवादी तो न लड़ने की नीति को धर्म भी नहीं मानते थे। युद्ध के शुरू-शुरू में इस प्रश्न ने इतना जोर नहीं पकड़ा। कांग्रेस की मांगें सरकार के सामने रक्खी पड़ी थीं। पर सरकार ने न तो उन्हें पूरा किया, न कोई आशा दिलाई। इस तरह कांग्रेस के प्रस्ताव का मानसिक अर्थ दो पक्ष के लोगों का भिन्न-भिन्न था। गांधीजी सरकार से समझौता होने पर केवल नैतिक सहायताभर ही देना चाहते थे। अन्य दिग्गजों ने अपनी कल्पना पर भौतिक सहायता देना भी कर्त्तव्य मान रक्खा था। प्रस्ताव-पर-प्रस्ताव कांग्रेस पास करती चली गई और इसकी द्विअर्थी भावना भी दोनों पक्ष अपने-अपने मन में पुष्ट करते रहे।

गांधीजी ने तो लेखों, वक्तव्यों और वाइसराय की मुलाकातों में इस चीज को स्पष्ट कर दिया था कि हिंदुस्तान तो अंग्रेजों को नैतिक बल का ही दान दे सकता है। पर वाइसराय ने भी अपने मन में अवश्य मान रक्खा होगा कि भौतिक बल का दान भी समझौता होने पर मिलना नितांत असंभव नहीं। दिन निकले, महीने निकले। जर्मनी की मृत्यु-बाढ़ एक के बाद दूसरे राष्ट्र को अपने उदर में समेटती हुई आगे बढ़ती चली। जब फ्रांस का पतन हुआ, तब 'मारते-मारते मरना' या 'बिना मारे मरना' यह प्रश्न तेजी के साथ महत्त्वपूर्ण बन गया। अबतक जिस तरह से दो पक्ष अपनी-अपनी कल्पना लेकर गाड़ी हांकते थे, वह अब असंभव-सा होगया। गांधीजी शुरू से इस भेद को जानते थे। शुरू से अपने सहकर्मियों से कहते थे कि मुझे छोड़दो। पर गांधीजी को जबतक राजीखुशी उनके सहकर्मी छोड़ न दें, तबतक वह कांग्रेस से निकल नहीं सकते थे। अंत में कांग्रेस के दिक्पालों ने देख लिया कि गांधीजी को अधिक दिन तक निबाहना उनके प्रति सरासर अन्याय है और वर्धा में २० जून १६४० को लम्बी बहस के बाद गांधीजी को बिदाई दे दी।

यह भी गांधीजी के जीवन की एक अनोखी घटना थी। शायद इससे अत्यंत मिलती-जुलती घटना हमारे पुराणों में युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण

के वर्णन में मिलती है। गांधीजी से अन्य नेताओं के इस मतभेद की चर्चा करते हुए मैंने कहा, "बापू ! इसे मतभेद नहीं कहना चाहिए। एक शक्कर ज्यादा मीठी हो और दूसरी कम मीठी हो, तो क्या हम यह कहेंगे कि दोनों शक्करों में मतभेद है ? बात तो यह है कि आप जहां शुद्ध धर्म की बात करते हैं, वहां अन्य नेता आपद्धर्म की बात करते हैं। उनकी श्रद्धा इतनी बलवती नहीं है कि वे शुद्ध धर्म की वेदी पर कही जानेवाली व्यावहारिकता का बलिदान करदें। और आप यह आशा भी कैसे कर सकते हैं कि आपकी जितनी सजीव श्रद्धा सभीके हृदय-पट पर अपना प्रभुत्व जमाले ? जैसे युधिष्ठिर स्वर्ग में गये तब एक-एक करके उनके निकटस्थ गिरते चले गये, उसी तरह आपका हाल है। ज्यों-ज्यों आप बढ़ते हैं, ऊपर चढ़ते हैं, त्यों-त्यों आपके साथी पिछड़ते जाते हैं, थकान के मारे गिरते जाते हैं।" पास में बैठी हुई डा. सुशीला ने मजाक में कहा, "पर युधिष्ठिर के साथ कुत्ता तो रहा। बापू ! इस दृष्टांत से स्वर्ग में पहुंचनेवाला कुत्ता कौन-सा है ?" गांधीजी ने कहा, "पहले यह बताओ कि वह युधिष्ठिर कौन-सा है ?" विषय के गांभीर्य ने सबके चेहरों पर जो एक तरह की सलवटें डाल दी थीं वे इस मजाक में रफा हुईं। सब खिलखिलाकर हंस पड़े।

पर इसका नतीजा क्या होगा ? अभी तो कालदेव इतिहास का निर्माण करते ही जाते हैं। अंत तो बाकी है, होनहार भविष्य के गर्भ में है। पर एक बात स्पष्ट होगई। कांग्रेस की अहिंसा-नीति, यह एक उपयोगितावाद था। गांधीजी की अहिंसा, यह उनका प्राण है। पर कौन कह सकता है कि गांधीजी की अहिंसा कांग्रेस को प्रभावान्वित न कर देगी ? और जो अहिंसा अबतक उपयोगिता के ढकने से ढकी थी वह अब अपना शुद्ध स्वरूप प्रकाशित न कर देगी ?

दो महीने तक उपयोगिता के सेवन के पश्चात् बम्बई में फिर गांधीजी के हाथ में बागडोर सौंपना क्या यह सिद्ध तो नहीं कर रहा है कि इच्छा या अनिच्छा से कांग्रेस शुद्ध गांधीवाद की तरफ खिंची जा रही है ?

मेरा खयाल है कि जब बाहर के आक्रमणों से भारतवर्ष की रक्षा

का प्रश्न सचमुच उपस्थित होगा, तब हमारे नेताओं का काफी हृदय-मंथन होनेवाला है। हिंसात्मक शस्त्रास्त्रों से किसी बड़े राष्ट्र से मुकाबिला करने की हमारी हौंस—यदि सचमुच वह हौंस हो तो—छोटे मुंह बड़ी बात है। दूसरी ओर हमारे पास सत्याग्रह का एक शस्त्र है, जो चाहे सान पर चढ़कर संपूर्ण न भी बन पाया हो तो भी एक ऐसा शस्त्र है जो अन्य किसी राष्ट्र के पास आज नहीं है। इसलिए जिस दिन भारतवर्ष की रक्षा का प्रश्न सचमुच ही उपस्थित होगा उस दिन सत्याग्रह का शस्त्र गांधीजी जिंदा हों और खटाई में पड़ा रहे ऐसी संभावना नहीं। गांधीजी का तो यह भी विश्वास है कि भारत की जनता अहिंसात्मक संग्राम में पीछे नहीं रहेगी। श्रद्धा की कमी उनकी समझ में नेताओं में है, न कि जनता में।

जो हो, एक चीज साबित हुई। वह है गांधीजी की अहिंसा में सजीव श्रद्धा। दूसरी चीज जो अभी साबित होनी बाकी है वह है अहिंसाशस्त्र का कौशल। उसके लिए, मालूम होता है, अवसर आरहा है। और यदि गांधीजी के जीवन में वह अवसर आजाय और उसमें उस शस्त्र की विजय साबित होजाय, तो यह संसार के भविष्य के इतिहास-निर्माण के लिए एक अद्‌भुत घटना होगी।

पर बीच में भविष्य की कल्पना आगई। जो हो, अंग्रेजों को परेशानी न हो, गांधीजी की इस मंशा का देश ने अबतक एक स्वर से पालन किया। खाकसारों ने उपद्रव किया, पर कांग्रेस शांत रही। वह बलवान की शांति थी। सहज ही आज कांग्रेस लाखों आदमी कटा सकती है, जेलें ठसाठस भर सकती है। पर गांधीजी ने शांति रखकर इस युद्ध के जमाने में जनता पर उनका कितना काबू है यह साबित कर दिया। भारतवर्ष में इतनी शांति पहले कभी न थी जितनी आज है। हमने अपनी उदारता का प्रदर्शन कर दिया। इससे हमारी शक्ति साबित हुई है। हमारी नेकनीयती का प्रमाण मिला। शुद्ध सत्याग्रह का स्वरूप इंग्लैंड के सामने आगया। अंग्रेजों से हमारी लड़ाई बंद नहीं हुई। मुमकिन है, जंग के बाद उनसे लड़ाई हो। शायद बड़ी भयंकर लड़ाई हो। यह भी मुमकिन

है कि सरकार अपनी गलतियों से कांग्रेस को झगड़ने के लिए बाध्य करे। पर गांधीजी अंग्रेजों को परेशानी से बचाने के लिए कुछ भी उठा न रक्खेंगे। आज अंग्रेज त्रस्त हैं, इसलिए उनपर आज वार करना कायरता होगी। ऐसी भावना गांधीजी के चित्त में अवश्य रही ह। गांधीजी को स्वराज्य से भी सत्याग्रह प्रिय है। और गांधीजी तो मानते ही यों हैं कि स्वराज्य की अधिक-से-अधिक सेवा इसीमें है कि हम शुद्ध सत्याग्रह का अनुसरण करें। इसलिए गांधीजी ने ब्रिटिश सल्तनत को परेशानी से काफी बचाया। इंग्लैंड इसके लिए कृतज्ञ नहीं है और न इंग्लैंड की मनोवृत्ति में कोई फर्क पड़ा है। पर गांधीजी आशा किये बैठे हैं कि 'चमत्कार का युग गया नहीं है। जबतक ईश्वर है तबतक चमत्कार भी है।' इस श्रद्धा की भाप से गांधीजी का स्टीम-एंजिन चला जारहा है।

वर्त्तमान युद्ध के समय में गांधीजी में एक बात और मैंने देखी है। जबसे युद्ध चला है तबसे वह प्रायः सेवाग्राम में ही रहना पसंद करते हैं। अति आवश्यकता के कारण एक बार उन्हें बंगाल जाना पड़ा। रामगढ़-कांग्रेस में तो जाना ही था। वाइसराय के पास जब-जब जाना पड़ा तब-तब गये। पर इन यात्राओं को छोड़कर और कहीं न तो जाना चाहते हैं, न बाहर जाने के किसी कार्यक्रम को पसंद करते हैं। पहले के जो वादे बाहर जाने के थे, वे भी उन्होंने वापस लौटा लिए। मुझसे भी एक वादा किया था, पर वह लौटा लिया गया। क्यों? "मुझे, जबतक लड़ाई चलती है, सेवाग्राम छोड़ना अच्छा नहीं लगता।" कुछ सोचते रहते होंगे। पर कभी उन्हें विचारमग्न नहीं पाया। फिर भी मालूम होता है कि वर्तमान युद्ध में उन्हें काफी विचार करना पड़ा है।

पर गांधीजी कब सोचते हैं, यह प्रश्न सामने आता है। गांधीजी के पास इतना काम रहता है कि सचमुच यह कहा जासकता है कि उन्हें एक पल की भी फुर्सत नहीं रहती। मुझे अक्सर ऐसा लगा है कि काम के इतने बाहुल्य के कारण कभी-कभी महत्त्व के कार्य ध्यान से ओझल होजाते हैं और कम महत्त्व के कामों को आवश्यकता से अधिक समय मिल जाता है। द्वितीय गोलमेज परिषद् में जब गये तब उनके मंत्रिवर्ग में वही लोग थे, जो सदा से उनके साथ रहे हैं। नये-नये कामों की बाढ़-सी आरही थी और इसपर भी काम शीघ्र निपट जाय ऐसी व्यवस्था नहीं थी। सिवाय नये आदमी मंत्रिवर्ग में भर्ती करने के और क्या उपाय होसकता था? पर यह गांधीजी को स्वीकार नहीं था। ज्यों-ज्यों काम बढ़ रहा था, त्यों-त्यों आपस में बांट-चूंटकर काम निपटाया जाता था। फलस्वरूप, गांधीजी की नींद में कमी होती जारही थी।

लन्दन में काम करते-करते रात के दो तक बज जाते थे। सुबह चार बजे प्रार्थना करके नौ बजे तक टहल-फिरकर, खा-पीकर तैयार होकर, फिर काम करना पड़ता था। चार घंटे से ज्यादा तो नींद शायद ही कभी मिलती थी। इसलिए गांधीजी ने कांफ्रेंस में ही, जब स्पीचें होती रहती थीं, कुर्सी पर बैठे-बैठे आंख मूंदकर नींद लेना शुरू कर दिया। मैंने टोका। कहा, "यह कुछ अच्छा नहीं लगता कि बड़े-बड़े लोग बैठे हों, व्याख्यान दिये जारहे हों, और आप सोते हों।" उत्तर मिला, "फिर क्या जागरण करके यहां बीमार पड़ना है? और तुमने कभी देखा भी है क्या कि एक भी मर्म के व्याख्यान को मैं न सुन पाया होऊं?" यह बात सही भी थी। यहां भी उनका विवेक का मापदण्ड कुछ अलग ही था। न मालूम कौनसी वृत्ति काम करती थी! जब कभी कोई महत्त्व का

पुरुष बोलने खड़ा होता था, तो गांधीजी चट आंखें खोल देते थे और समाप्ति पर फिर नींद लेलेते थे ।

पर मुझे यह स्थिति अच्छी नहीं लगती थी । साथवालों में आपस में हम लोग यह चर्चा किया करते थे कि बापू को चाहिए कि अपने मंत्रिवर्ग में कुछ नये आदमियों का और समावेश करें । इसकी क्या जरूरत है कि हर खत बापू या महादेवभाई ही हाथ से लिखें ? गांधीजी का दाहिना हाथ लिखते-लिखते थक जाता था, तो वह बायें हाथ से काम करने लगते थे । गोलमेज परिषद् सम्बन्धी कामों की कभी-कभी वह अवहेलना भी करते थे । और इसके बदले गायों की प्रदर्शिनी में जाना, विलायती बकरियां देखना, साधारण मनुष्यों से मिलना-जुलना, कई तरह की खब्तियों को काफी से ज्यादा समय देदेना, ये सब चीजें बढ़ती जारही थीं । अक्सर गरीबों के बच्चों से खेलते-खेलते कह दिया करते थे कि मेरी गोलमेज परिषद् 'सेण्ट जेम्स' महल में नहीं, इन बच्चों के बीच में है । ये सब चीजें पास में रहनेवालों को खटकती भी थीं । जब मैं देखता हूं तो लगता है कि गांधीजी ने गोलमेज परिषद् की अवहेलना करके कुछ नहीं खोया । तो भी यह मैं अब भी महसूस करता हूं कि उनके पास काम ज्यादा है, आदमी कम । क्यों नहीं स्टेनो-टाइपिस्ट रखते, जिससे कि लिखा-पढ़ी में सुभीता हो, समय की बचत हो ? कई मर्तबा मैंने इसका जिक्र किया, पर कोई फल नहीं निकला ।

पर प्रश्न तो यह है, "इतने काम के बीच इन्हें सोचने की फुर्सत कब मिलती है ?"

कितने ऐसे किस्से हैं, जिनपर उनका उनके साथियों से मतभेद हुआ । कितनी घटनाएं मुझे याद हैं, जिनके सम्बन्ध में मुझे ऐसा लगा कि गांधीजी गलती कर रहे हैं और पीछे साबित हुआ कि गलती उनकी नहीं उनसे मतभेद रखनेवालों की थी । एक प्रतिष्ठित मित्र ने एक मर्तबा, जब एक घटना घट रही थी, कहा कि गांधीजी गलती कर रहे हैं । मैंने भी कहा, "हां, गलती होरही है ।" पर फिर उसी मित्र ने याद दिलाई कि

हम लोगों ने कई मर्तबा जिस चीज को गांधीजी की भूल माना था वह पीछे से उनकी बुद्धिमत्ता साबित हुई। यह सच बात थी। यह आश्चर्य की बात है कि इतना काम और इतने जटिल प्रश्नों की समस्या और फिर इतना शुद्ध निर्णय। भूल मनुष्यमात्र करता है। गांधीजी भी भूल करते हैं। उन्होंने अपनी कितनी भूलों का बढ़ा-चढ़ाकर जिक्र किया है। मजा यह है कि जिन चीजों को उन्होंने भूल माना है उन्हें उनके साथियों ने भूल नहीं माना। बल्कि उनके साथियों ने यह माना कि गांधीजी ने अपनी भूल स्वीकार करने में भूल की है। भूल मनुष्यमात्र करता ही है। गांधीजी भी करते हैं, पर सबसे कम।

गांधीजी का निर्णय करने का तरीका क्या है? यह कैसे सोचते हैं? इतने कामों के बीच कब सोचते हैं? गांधीजी को मैंने कभी विचार-मग्न नहीं देखा। प्रश्न सामने आया कि झट गांधीजी ने फैसला दिया। बड़े-बड़े मौकों पर मैंने पाया है कि प्रश्न उपस्थित होगया है, निर्णय करने का समय आगया है, पर जबतक ऐन मौका नहीं आया तबतक निर्णय नहीं करते।

गोलमेज परिषद् की प्रथम बैठक में उनका महत्त्वपूर्ण व्याख्यान होनेवाला था, जो उनका प्रथम व्याख्यान था। उसे सुनने को, उनके विचार जानने को, सब लोग अत्यंत उत्सुक थे। गांधीजी ने न कोई विचार किया, न तैयारी ही की, और वहां पहुंचते ही धारा-प्रवाह मर्म की बातें उनकी जबान से निकलने लगती हैं। अत्यंत महत्त्व के काम के लिए वाइसराय से मुलाकात करने जा रहे हैं। पांच मिनट पहले मैं पूछता हूं, "क्या कहेंगे?" उत्तर मिलता है, "मेरा मस्तिष्क शून्य है। पता नहीं क्या कहूंगा।" और वहां पहुंचते ही कोई अनोखी बात कह बैठते हैं। यह एक अद्भुत चीज है।

अहमदाबाद में मिल-मजदूरों की हड़ताल हुई। न्याय मजदूरों के साथ था, यह गांधीजी ने माना था। मिल-मालिकों से भी प्रेम था। इसलिए एक हदतक तो प्रेम का भी झगड़ा था। मजदूर पहले तो जोश

में रहे, पीछे ठंडे पड़ने लगे। भूख के मारे चेहरों पर हवाइयां उड़ने लगीं। मजदूरों की सभा में गांधीजी व्याख्यान देरहे थे। मजदूरों के चेहरे सुस्त थे। अचानक गांधीजी के मुंह से निकल पड़ा, "यदि हड़ताली डटे न रहे और जबतक फैसला न हो तबतक हड़तालियों ने हड़ताल को जारी न रक्खा, तो मैं भोजन न छूऊंगा।" यह अचानक निर्णय मुंह से निकल पड़ा। न पहले कोई विचार उपवास का था, न कोई मन में तर्क करके तत्त्व का मोल-तोल था। राजकोट का उपवास भी इसी तरह अचानक ही किया गया था।

१५

इन घटनाओं में एक बात मैंने स्पष्ट पाई। गांधीजी निर्णय करने के लिए न विचार-मग्न होते हैं, न अपने निर्णय को विचार की कसौटी पर पहले कसते हैं। निर्णय पहले होता है, तर्क-दलील पीछे पैदा होती है। यही कारण है कि कभी-कभी उनकी दलीलें कच्ची मालूम देती हैं, तो कभी-कभी 'घृताधारं पात्रं वा पात्राधारं घृतम्' की तरह अत्यंत सूक्ष्म या तोड़ी-मरोड़ी हुई या खींचातानी की हुई मालूम देती हैं। कभी-कभी ऐसी दलीलों के मारे उनके विपक्षी परेशान होजाते हैं। उन्हें चाणक्य बताते हैं। उन्हें उस मछली की उपमा दी जाती है, जो अपनी चिकनाहट के कारण हाथ की पकड़ में नहीं आती और फिसलकर कब्जे से निकल जाती है।

पर दरअसल बात यह है कि गांधीजी की दलीलें सहज स्वभाव की होती हैं। पर चूंकि ये दलीलें निर्णय के बाद पैदा होती हैं, न कि निर्णय दलील और तर्क की भित्ति पर खड़ा किया जाता है, इसलिए उनका सारे-का-सारा निर्णय तक कभी अनावश्यक जटिलता लिये, कभी चाणक्यीय वाग्जाल से भरा हुआ और कभी थोथा प्रकट होता है। और हो भी क्या सकता है? सूरज से पूछो कि आप सर्दी में दक्षिणायन और गर्मी में उत्तरायण क्यों होजाते हैं, तो क्या कोई यथार्थ उत्तर मिलेगा? सर्दी-गर्मी उत्तरायण-दक्षिणायन के कारण होती है, न कि उत्तरायण-दक्षिणायन सर्दी-गर्मी के कारण। गांधीजी की दलीलें भी वैसी ही हैं। वे निर्णय के कारण बनती हैं, न कि निर्णय उनके कारण बनता है। असल में तो जबर्दस्त दलील उनके निर्णय के बारे में यही हो सकती है कि यह गांधीजी का निर्णय है। यह मैं अतिशयोक्ति नहीं कर रहा हूं; क्योंकि मैंने यह पाया है कि उनका निर्णय उनकी दलीलों से कहीं अधिक प्राबल्य रखता है, कहीं अधिक

अकाट्य होता है ।

'चार तरह के सत्यानाश' वाली स्वतंत्रता-दिवस के उपलक्ष्य में जो शपथ है, उसमें कथन है कि अंग्रेजों ने भारतवर्ष का आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक नाश किया है। यह पुरानी शपथ है, जो वर्षों से चली आती है। पर इस साल काफी कोलाहल हुआ। अंग्रेजी पत्रकारों ने और कुछ अंग्रेज नेताओं ने कहा कि "यह सरासर झूठ है। हम लोगों ने कब आध्यात्मिक या सामाजिक नाश किया? यह कथन ही नितांत असत्य है कि हमने भारतीय अध्यात्म या संस्कृति का खून किया है ।"

बात में कुछ वजन भी है; पर जैसा कि हर दफा होता है; गांधीजी जो कहते हैं उसका अर्थ जनता या सर्वसाधारण कुछ भी करें, गांधीजी को तो वही अर्थ मान्य है जो उनका अपना है। वह शब्दों के साहित्यिक अर्थ के कायल नहीं हैं। वह शब्दों में जो तत्त्व भरा रहता है, उसके पक्षपाती हैं। कांग्रेस ने कहा, आजादी चाहिए। गांधीजी ने कहा कि "हां, आजादी चाहिए।" पर जवाहरलालजी आजादी मांगते हैं तो वह कुछ अलग चीज चाहते हैं। गांधीजी की आजादी अलग चीज है। गांधीजी की आजादी पूर्ण स्वराज्य तो है ही, पर कई पहलुओं से महज राजनैतिक आजादी की अपेक्षा अधिक जटिल भी है। गांधीजी के पूर्ण स्वराज्य में अंग्रेजों के लिए तो त्याग है ही, पर भारतीयों के लिए भी सुखकी नींद नहीं। आजादी कहते-कहते गांधीजी 'पूर्ण स्वराज्य' शब्द का प्रयोग करने लगते हैं। फिर 'रामराज्य' कह जाते हैं ।

असल में तो वह रामराज्य ही चाहते हैं। कई मर्तबा उन्होंने पाश्चात्य चुनाव-प्रणाली की निंदा की है और रामराज्य को श्रेष्ठ माना है। क्योंकि उनकी दृष्टि में रामराज्य के माने पूर्ण स्वराज्य हो सकता है, पर पूर्ण स्वराज्य के माने राक्षस-राज्य भी हो सकता है। जर्मनी स्वतंत्र है, ऐसा हम मान सकते हैं। पर गांधीजी ऐसी स्वतंत्रता नहीं चाहते। वह मुद्दे के पीछे चलते हैं, शब्द के गुलाम नहीं हैं। हलुवा कहो या और किसी

नाम से पुकारो, वह एक पोषक और स्वादिष्ट भोजन चाहते हैं। वह शब्द का ऐसा अर्थ करते हैं कि जिसके पीछे कुछ मुद्दा रहता है, तथ्य रहता है। इसलिए हर शब्द का अपना अर्थ करते हैं और उसीपर डटे रहते हैं। इसमें बहुत गलतफहमियां होजाती हैं, पर इससे उनको व्याकुलता नहीं होती।

कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली शब्द के अर्थ का भी शायद यही हाल है। रामगढ़ के सविनय आज्ञा-भंग के प्रस्ताव के पीछे जो कैद लगी है उसको लोग भूल जाते हैं और आज्ञा-भंग को याद रखते हैं। पर गांधीजी आज्ञा-भंग को ताक पर रखकर उसके पीछे जो कैद है उसकी रटन करते हैं। लोग जब रसगुल्ला-रसगुल्ला चिल्लाते हैं, तब उनकी मंशा होती है एक गोल, अंडाकार सफेद चीज से, जो मीठी और रसभरी होती है। पर गांधीजी इतने से संतुष्ट नहीं। उन्हें गोलाकार, अंडाकार या सफेद की परवा नहीं। चाहे चपटी क्यों न हो, चाहे पिलास लिये क्यों न हो, पर मीठी तो हो ही, ताजगी भी लिये हो। उसमें कोई जहर न मिला हो, स्वच्छ दूध की बनी हो, जो-जो उसमें वांछनीय चीजें होती हैं वे सब हों, फिर शक्ल चाहे कुछ भी हो, रंगरूप की कोई कैद नहीं। शक्कर सफेद न हो और लाल हो और उसके कारण रसगुल्ले का रंग यदि लाल है तो उन्हें ज्यादा पसंद है। गांधीजी ने जब 'चार सत्यानाश' वाली शपथ का समर्थन कया तो उनका अपना अर्थ कुछ और था, कांग्रेस का अर्थ कुछ और था।

इसलिए जब कुछ प्रतिष्ठित अंग्रेजों ने इस शपथ की शिकायत की और इसे असत्य और हिंसात्मक बताया तो झट गांधीजी ने अपनी व्याख्या दे डाली--"मेरे पिताजी सीधे-सादे आदमी थे। पांव में नरम चमड़े का देसी जूता पहना करते थे। पर जब उन्हें गवर्नर के दरबार में जाना पड़ा, तो मौजा पहना और बूट पहने। कलकत्ते में मैंने देखा कि कुछ राजा-महाराजाओं को कर्जन के दरबार का न्यौता आया तो उन्हें अजीब तैयारियां करनी पड़ीं। उनकी बनावट और स्वांग इतने भद्दे थे कि मानो वे खानसामा के भेष में हों ऐसे लगते थे। हजारों भारतीय ऐसे हैं जो अंग्रेजीदां तो बन गये, पर अपनी भाषा से कोरे हैं। क्या यह

संस्कृति और अध्यात्म का ह्रास नहीं है ? माना कि यह हमने अपनी स्वेच्छा से किया, पर स्वेच्छा से हमने आत्म-समर्पण किया, इससे क्या अंग्रेजों का दोष कम होजाता है ? जो बेड़ियां बंदी को बंधन में रखती हैं, उन्हींकी यदि बंदी पूजा करने लग जाय और अपने बंधनकर्त्ता का अनुवर्तन करे तो फिर ह्रास का कौन-सा अध्याय बाकी रहा ?"

यह कुछ अनोखी-सी दलील है, पर इस दलील ने 'शपथ' से पैदा हुई कटुता को अवश्य ही कम कर दिया। साथ ही, गांधीजी के विपक्षियों को यह लगे बिना नहीं रहा कि बाल की खाल खींची जाती है। पर दर-असल बात तो यह है कि उस शपथ के माने गांधीजी के अपने और रहे हैं, लोगों के कुछ और। गांधीजी के निर्णय तर्क के आधार पर नहीं होते। तर्क पीछे आता है, निर्णय पहले बनता है। दरअसल शुद्ध बुद्धिवालों को निर्णय में ज्यादा सोच-विचार नहीं करना पड़ता। एक अच्छी बंदूक से निकली हुई गोली सहसा तेजी के साथ निशाने पर जाकर लगती है। उसी तरह स्थितप्रज्ञ का निर्णय भी यंत्र की तरह झटपट बनता है, क्योंकि 'सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।'

पर यह उनकी विभूति—और इसे विभूति के अलावा और क्या कह सकते हैं ?—मित्र और विपक्षी दोनों को उलझन में डाल देती है। यह चीज गांधीजी को रहस्यमय बना देती है। इसके कारण कितने ही लोग उनके कथन को अक्षरशः न स्वीकार करके उसे शंका की दृष्टि से देखते हैं।

गांधी-अरविन पैक्ट के समय की बात है। करीब-करीब सारी चीजें तय होगईं। एक-एक शब्द वाइसराय और गांधीजी ने आपस में मिलकर पढ़ लिया। पढ़ते-पढ़ते वाइसराय के घर पर दोपहरी होगई। वाइसराय ने कहा : "मैं भोजन कर लेता हूं। आप भी थक गये हैं। मेरे कमरे में आप सो जाइए, फिर उठकर आगे काम करेंगे।" गांधीजी सोगये। ढाई बजे सोकर उठे, हाथ-मुंह धोया। गांधीजी का कथन है, "मुझे कुछ बेचैनी-सी मालूम हुई। मैंने सोचा, यह क्या है ? बेचैनी क्यों है ? यह शारीरिक बेचैनी नहीं थी, यह मानसिक बेचैनी थी। मुझे

लगा कि मैं कोई पाप कर रहा हूं। इकरारनामे का मसविदा मैंने लिया और उसे पढ़ना शुरू किया। पढ़ते-पढ़ते जमीन संबंधी धारा पर पहुंचते ही मेरा माथा ठनका। बस, मैंने जान लिया, यही भूल होरही थी। वाइसराय से मैंने कहा, यह मसविदा ठीक नहीं है। मैं इसे नहीं मान सकता। यह सही है कि मैंने इसकी स्वीकारोक्ति देदी थी, पर मैंने देखा कि मैं पाप कर रहा था। इसलिए मैं इस स्वीकारोक्ति से वापस हटता हूं।"

वाइसराय बेचारा हक्का-बक्का रह गया। यह भी कोई तरीका है? दलीलें तो गांधीजी के पास हजार थीं और दलीलें शिकस्त देनेवाली थीं। पर दलीलों ने नाट्य-मंच पर पीछे प्रवेश किया, पहले आया निर्णय। अंत में वाइसराय दलीलों के कायल हुए। पर क्या वाइसराय ने नहीं माना होगा कि यह आदमी टेढ़ा है?

६ अप्रैल को सत्याग्रह-दिवस मनाया जाता है। इसके निर्णय का इतिहास भी ऐसा ही है। कुछ दिन पहले तक गांधीजी ने इसकी कोई कल्पना ही नहीं की थी। एक रात गांधीजी सो जाते हैं। रात को स्वप्न आता है कि तारीख ६ को सत्याग्रह-दिवस मनाओ। सहकर्मी कहते हैं कि अब समय नहीं रह गया, सफलता मुश्किल है। पर इसकी कोई परवा नहीं। मुनादी फिरादी जाती है और छः तारीख का दिन शान के साथ सफल होता है। क्या यह कोई दलील पर बना हुआ निर्णय था? क्या सहकारियों ने नहीं सोचा होगा कि यह कैसा बेजोड़ आदमी है, जो हठात् निर्णय करता है और दलीलें पीछे से पैदा करता है? पर मेरा खयाल है कि जो अंतरात्मा से प्रेरित होकर निर्णय करते हैं, उनके निर्णय तर्क के आधार पर नहीं होते। पर यह अंतरात्मा सभीको नसीब नहीं होती। यह क्या वस्तु है, इसके समझने का प्रयास भी कठिन है। प्रस्तुत विषय तो इतना ही है कि गांधीजी के निर्णय कैसे हुआ करते हैं।

१६

जबसे मुझे गांधीजी का प्रथम दर्शन हुआ, तबसे मेरा-उनका अविच्छिन्न सम्बन्ध जारी है। पहले कुछ साल मैं समालोचक होकर उनके पास जाता था, उनके छिद्र ढूंढ़ने की कोशिश करता था; क्योंकि नौजवानों के आराध्य लोकमान्य की ख्याति को इनकी ख्याति टक्कर लगाने लग गई थी, जो मुझे रुचिकर नहीं मालूम देता था। पर ज्यों-ज्यों छिद्र ढूंढ़ने के लिए मैं गहरे उतरा त्यों-त्यों मुझे निराश होना पड़ा और कुछ अरसे में समालोचक की वृत्ति आदर में परिणत होगई, और फिर आदर ने भक्ति का रूप धारण कर लिया। बात यह है कि गांधीजी का स्वभाव ही ऐसा है कि कोई विरला ही उनके संसर्ग से बिना प्रभावान्वित हुए छूटता है।

हम जब स्वप्नावस्था में होते हैं तब न करनेयोग्य कार्य कर लेते हैं, जो जाग्रत अवस्था में हम कभी न करें। पर शारीरिक जाग्रत अवस्था में भी मानसिक सुषुप्ति रहती है और ध्यानपूर्वक खुर्दबीन से अध्ययन करनेवाले मनुष्य को, रूहानी बेहोशी में किये गये कामों से, उस तिल के तेल का माप मिल जाता है। गांधीजी से मेरा पच्चीस साल का संसर्ग रहा है। मैंने अत्यंत निकट से, सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा, उनका अध्ययन किया है। समालोचक होकर छिद्रान्वेषण किया है। पर मैंने उन्हें कभी सोते नहीं पाया। मालूम होता है, वह हर पल जाग्रत रहते हैं। इसलिए जब वह मुझे कहते हैं कि "हर पल मेरा जीवन ईश्वर-सेवा में व्यतीत होता है," तो मैं इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं पाता। ऐसा कथन अभिमान की निशानी नहीं है; क्योंकि गांधीजी द्रष्टा होकर ही अपना विवेचन देते हैं। यदि द्रष्टा होकर कोई अपनेआपको देखे, तो फिर वह चाहे अपना विवरण दे या पराया, उसमें कोई भेद नहीं रह जाता। और वह अपना विवरण भी उतना ही निःसंकोच देसकता है जितना कि पराया।

यरवदा में जब वह उपवास के बाद उपवास करने लगे तो मुझे ऐसा लगा कि शायद अब वह सोचते होंगे, "मैं बूढ़ा होकर अब जानेवाला तो हूं ही, इसलिए क्यों न लड़ते-लड़ते जाऊं ?" मैंने उन्हें एक तरह का उलाहना देते हुए कहा, "मालूम होता है कि आपने जीकर देश का भला किया, पर अब चूंकि मरना है, इसलिए मृत्यु से भी आप देश को लाभ देना चाहते है।" उन्होंने कहा, "ऐसी कल्पना करना भी अभिमान है, क्योंकि करना, कराना, न कराना यह ईश्वर का क्षेत्र है। यदि इस तरह का मन में हम कोई नक्शा खींचें तो यह ईश्वर के अस्तित्व की अवहेलना होगी और इससे हमारा अभिमान साबित होगा।" मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ, अहंकार का उन्होंने कहांतक नाश किया है, इसका मुझे पता लगा।

अहंकार से गांधीजी इतनी दूर हैं, यह उनके अंतर में झांकने से ही पता लग सकता है।

हरिजन-सेवक-संघ के हर पदाधिकारी को एक तरह की शपथ लेनी पड़ती है। उसका आशय है कि 'मैं अपने जीवन में ऊंच-नीच का भेद नहीं मानूंगा।' इस शपथ के लेने का समय आया तो मैंने इन्कार किया। मैंने कहा कि "केवल जन्म से न कोई ऊंचा है न नीचा, यह तो मैं सहज ही मान सकता हूं। पर यदि एक आदमी चोर है, दुष्ट है, पापी है, उसके पाप-कर्म प्रत्यक्ष हैं और मुझमें वे ऐब नहीं हैं तो मैं अभिमान न भी करूं तो भी, इस ज्ञान से कि मैं अमुक से भला हूं कैसे वंचित रह सकता हूं ? इसके माने यह हैं कि मैं द्रष्टा होकर भी यह मान सकता हूं कि मैं अमुक से ऊंचा हूं, अमुक से नीचा।"

इस बहस ने उन्हें कायल नहीं किया, तो मैंने मुद्दे की दलील पेश की, "आप अपने ही को लीजिए। आप ईश्वर से अधिक निकट हैं बनिस्बत मेरे, अब क्या आप इस बात को आपमें अभिमान न होते हुए भी भूल जायेंगे कि आप ऊंचे हैं और मैं नीचा हूं ?"

"पर यह बात ही सही नहीं है, क्योंकि जबतक हम अपनी मंजिल तय न करलें, कौन कह सकता है कि ईश्वर के निकट कौन है और दूर कौन ? जो दूर दिखाई देता है वह निकट भी होसकता है और जो निकट

दिखाई देता है वह दूर भी होसकता है। मैं हिंदुस्तान से एक बार अफ्रीका जारहा था। जहाज पर ठीक समय पर नहीं पहुंच सका। लंगर उठ चुका था, इसलिए एक नाव में बैठकर मुझे जहाज के पास पहुंचाया गया। पर तूफान इतना था कि कई बार मेरी किश्ती जहाज के बाजू में टकरा-टकराकर दूर हट गई। अंत में जैसे-तैसे मुझे जहाज पर चढ़ाया गया। पर यह भी संभव था कि जैसे किश्ती कई बार जहाज से टकराकर दूर निकल गई, वैसे दूर ही रह जाती और मैं जहाज पर सवार ही न होपाता। क्या केवल किश्ती के छूजाने से हम यह कह सकते हैं कि हम जहाज के निकट पहुंच गये? निकट पहुंचकर भी तो दूर चले जासकते हैं। तो मैं फिर कैसे मानलूं कि मैं ईश्वर के निकटतर हूं और अमुक मनुष्य दूर है? ऐसी कल्पना ही भ्रममूलक है और अहंकार से भरी है।"

मुझे यह दलील मोहक लगी। अधिक मोहक तो यह चीज लगी कि गांधीजी किस हदतक जाग्रत हैं। राजा का स्वांग भरनेवाला कलाकार अपने स्वांग से मोहित नहीं होता। गांधीजी अपने बड़प्पन में बेभान नहीं हैं। अहंकार मोह का एक दूसरा नाम है। जाग्रत मनुष्य को मोह कहां, अहंकार कहां? यही कारण है कि गांधीजी कभी-कभी निस्संकोच आत्म-श्लाघा भी कर बैठते हैं। "मैं प्रचार-शास्त्र का पंडित हूं; अखबारनवीसी में निपुण हूं; मैं पक्का बनिया हूं; मैं शरीर-शास्त्र का विद्यार्थी हूं; मेरा दावा है कि मैं अड़तीस वर्ष से गीता के अनुसार आचरण करता आरहा हूं (यह सन् १९२९ ई. में इन्होंने लिखा था); मैं सत्य का पुजारी हूं; मेरा जीवन अहर्निश ईश्वर-सेवा में बीतता है।" इस शब्दावली में और किसीके मुंहसे अहंकार की गंध आसकती है, पर गांधीजी के मुंह से नहीं। क्योंकि गांधीजी तटस्थ होकर अपनी विवेचना करते हैं।

एक दक्ष सर्जन छुरी लेकर चीरफाड़ करके मनुष्य-शरीर के भीतर छिपे हुए अवयवों को दर्शकों के सामने ला देता है। सड़े हुए हिस्से को निर्दयता से काट डालता है, टांके लगाता है, और इस बेरहमी से छुरी चलाता नजर आता है मानों वह जिंदा शरीर पर नहीं बल्कि एक लकड़ी पर कौशल

बिलखला रहा हो। पर वही सर्जन यह व्यवहार अपने ऊपर नहीं कर सकता। ऐसा सर्जन कहां, जो हंसते-हंसते काम पड़ने पर अपनी सड़ी टांग को काट फेंके ? पर गांधीजी वैसे सर्जन हैं। उनके स्नायु ममता-रहित होगये हैं, इसलिए गांधीजी जिस बेरहमी से परपुरुष को नश्तर मार सकते हैं उससे कहीं अधिक निर्दयता से अपने ऊपर नश्तर चला सकते हैं। "मैंने हिमालय के समान बड़ी भूल की है, मैंने अमुक पाप किया," ऐसी स्वीकारोक्तियों से उनकी आत्मकथा भरी है। क्या आश्चर्य है, यदि वह कहें कि "बुद्ध की अहिंसा मेरी अहिंसा से न्यून थी। टाल्स्टॉय कभी अपने विचारों का पूर्ण अनुसरण नहीं कर सका, क्योंकि उसके विचार उसके आचारों से कई मील आगे दौड़ते थे। मैं अपने विचारों से अपने आचार को एक कदम आगे रखने का प्रयत्न करता आरहा हूं।" ये उक्तियां अभिमान की नहीं, एक तटस्थ जर्राह की हैं, जो उसी दक्षता और कुशलता से अपने-आपको चीर-फाड़ सकता है, जिस दक्षता से वह औरों की चीरफाड़ करता है।

सूक्ष्मतया अध्ययन करनेवाले को सहज ही पता लग जाता है कि अभिमान गांधीजी को छू तक नहीं गया। मेरा खयाल है कि मनुष्यों की परख छोटे कामों से होती है, न कि बड़े कामों से। बड़े-से-बड़ा त्याग करनेवाला रोजमर्रा के छोटे कामों में लापरवाही भी कर बैठता है और कभी-कभी अत्यंत कमीना काम भी कर लेता है। कारण यह है कि बड़े कामों में लोग जाग्रत रह कर काम के साथ-साथ आत्मा को जोड़ देते हैं, इसलिए वह कार्य दिप उठता है। पर छोटे कामों में लापरवाही में मनुष्य असावधान बन जाता है। ऐसे मनुष्य के सम्बन्ध में यह साबित होजाता है कि उसका त्याग उसका एक स्वाभाविक धर्म नहीं बन गया है। पर गांधीजी के बारे में यह कहा जासकता है कि चाहे छोटा हो या बड़ा, सभी काम वह जाग्रत होकर करते हैं। इसके माने ये हैं कि त्याग, सत्य, अहिंसा इत्यादि उनका स्वाभाविक धर्म बन गया है। उन्हें धर्म-पालन करने में प्रयत्न नहीं करना पड़ता और यदि प्रयत्न करना पड़ता है तो अत्यंत सूक्ष्म। वह आठ पहर जाग्रत रहते हैं। यह कोई साधारण स्थिति नहीं है।

१७

गांधीजी को एक महात्मा के रूप में हमने देखा, एक नेता के रूप में भी देखा, पर गांधीजी का असल रूप तो 'बापू' के रूप में देखने को मिलता है। सेवाग्राम में बड़े-बड़े मसले आते हैं। वाइसराय से खतोकिताबत होती है, वर्किंग कमेटी की बैठकें होती हैं, बड़े-बड़े नेता आते हैं। मंत्रिमंडल के लोग कांग्रेस-राज के जमाने में सलाह-सूत के लिए आते ही रहते थे। पर आश्रमवासी न बड़े लोगों की चिट्ठियों से चौंधियाते हैं, न बड़े नेताओं को देखकर मोहित होते हैं, न राजनीति में उन्हें कोई बड़ी भारी दिलचस्पी है। उन्हें तो बापू ने क्या खाया, क्या पिया, कब उठ गये, कब सो गये, फलां से क्या कहा, फलां ने क्या सुना, इन बातों में ज्यादा रस है। और गांधीजी भी आश्रम की छोटी-छोटी चीजों में आवश्यकता से अधिक रस लेते हैं।

आश्रम भी क्या है, एक अजीब मंडली है। उसे शिवजी की बरात कहना चाहिए। कई तरह के तो रोगी हैं, जिनकी चिकित्सा में गांधीजी खास दिलचस्पी लेते हैं। पर सब-के-सब बापू के पीछे पागल हैं। मैंने एक रोज देखा कि एक रोगी के लिए जाड़े में ओढ़ने के लिए रजाई बनाई जारही है। बा की फटी-पुरानी साड़ियां लाई गईं। गांधीजी ने अपने हाथ से उन्हें नापा। कितना कपड़ा लगेगा, इसकी कूत की गई। रजाई के भीतर रुई की जगह पुराने अखबारों को एक के ऊपर दूसरी परत रखकर कपड़े के साथ सीया जारहा था। गांधीजी ने सारा काम दिलचस्पी से कराया। मुझे बताया कि अखबार रुई से ज्यादा गरम है। मुझे लगा कि ऐसे-ऐसे कामों में क्या इनका बहुमूल्य समय लगना चाहिए? मैंने मजाक में कहा, "जान पड़ता है, आपको आश्रम के इन कामों में देश के बड़े-बड़े मसलों से भी ज्यादा दिलचस्पी है।" "ज्यादा तो नहीं, पर उतनी

ही है, ऐसा कहो।"

मैं अवाक् रह गया। क्योंकि गांधीजी ने गम्भीरता से उत्तर दिया था, मजाक में नहीं। पर बात सच्ची है। शायद इसका यह भी कारण हो कि गांधीजी रात-दिन यदि गम्भीर मसलों पर ही विचार किया करें, तो फिर उन्हें तनिक भी विश्राम न मिले। शायद आश्रम उनके लिए परोपकार और खेल की एक सम्मिलित रसायन-शाला है। आश्रम गांधीजी का कुटुम्ब है। महान्-से-महान् व्यक्ति को भी कौटुम्बिक सुख की चाह रहती है। गांधीजी का वैसे तो सारा विश्व कुटुम्ब है, पर आश्रम के कुटुम्ब की उनपर विशेष जिम्मेदारी है। उस जिम्मेदारी को वह निर्मोही होकर निबाहते हैं।

आश्रम में उन्होंने इतने भिन्न-भिन्न स्वभाव और शक्ति के आदमी रक्खे हैं कि बाहरी प्रेक्षक को अचम्भा होता है कि यह शिवजी की बरात क्यों रक्खी है! परन्तु एक-एक का परिचय करने से पता चलता है कि हरेक का अपना स्थान है। बल्कि गांधीजी उनमें से कई को कुछ बातों में तो अपने से भी अधिक मानते हैं। किसी आध्यात्मिक प्रश्न का निराकरण करना होता है तो वह अक्सर अपने साथियों——विनोबा, किशोरलाल भाई, काका साहब आदि को बुला लेते हैं। ऐसे साथियों को रखकर ही मानो उन्होंने अपने मन में उच्च-नीच-भावना नष्ट कर डाली है। जो काम हलके-से-हलका माना जाता है उसे करनेवाला और जो काम ऊंचे-से-ऊंचा माना जाता है उसे करनेवाला दोनों आश्रम में भोजन करते समय साथ-साथ बैठते हैं। जैसे पंक्ति में उच्च-नीच का भेद नहीं है, वैसे ही गांधीजी के मन में और उनके आश्रमवासियों के मन में भी यह भेद नहीं है।

कुछ दिन पहले की बात है। वाइसराय से मिलने के लिए गांधीजी दिल्ली आये हुए थे। पर वापस सेवाग्राम पहुंचने की तालावेली लगी हुई थी। वापस पहुंचने के लिए एक प्रकार का अधैर्य-सा टपकता था। अंत में गांधीजी ने जब देखा कि शीघ्र वापस नहीं जा सकते, तो महादेवभाई को झटपट सेवाग्राम लौटने का आदेश दिया। काम तो

काफी पड़ा ही था और मैं नहीं समझ सका कि इतने बड़े मसले के सामने होते हुए कैसे तो वापस जाने का उतावलापन वह खुद कर सकते थे और कैसे महादेवभाई को यकायक वापस लौटा सकते थे। मैंने कहा, "इतने बड़े काम के होते हुए वापस लौटने का यह उतावलापन मुझे कुछ कम जंचता है।" "पर मेरी जिम्मेदारी का तो खयाल करो।" गांधीजी ने कहा, "मैं तो सेवाग्राम में एक मजमा लेकर बैठा हूं। रोगी तो हैं ही, पर पागल-पन भी वहां है। कभी-कभी तो मन में आता है कि बस अब मैं सबको छोड़ दूं और केवल महादेव को ही पास रक्खूं। बा चाहे तो वह भी रहे। पर सबको छोड़ दूं, तब तो जिम्मेदारी से हट जाता हूं। पर जबतक इस मजमे की जिम्मेदारी लेकर बैठा हूं, तबतक तो मुझे उस जिम्मेदारी को निबाहना ही चाहिए। यही कारण है कि मेरा शरीर तो दिल्ली में है, पर मेरा मन सेवाग्राम में पड़ा है।"

सेवाग्राम के कुटुम्ब के प्रति उनके क्या भाव हैं, इसपर ऊपरी उद्‌गार कुछ प्रकाश डालते हैं।

१८

गांधीजी के यहां एक-एक पैसे का हिसाब रक्खा जाता है। गांधीजी की आदत बचपन से ही रुपये-पैसे का हिसाब सावधानी से रखने की रही है। गांधीजी व्यवस्थाप्रिय हैं। यह भी बचपन से ही उनकी आदत है। इसलिए उनकी झोंपड़ी साफ-सुथरी, लिपी-पुती और व्यवस्थित है। कमर में कछनी है, वह भी व्यवस्थित। वाइसराय ने कहा कि गांधीजी बुड्ढे तो हैं, पर उनकी चमड़ी की चिकनाहट युवकों की-सी है। यह सही बात है कि स्वास्थ्य का पूरा जतन रखते हैं। हर चीज में किफायतसारी की जाती है। कोई पिन चिट्ठियों में लगी आई, तो उसको निकालकर रख लिया जाता है।

लन्दन जाते समय जहाज पर एक गोरा था, जो गांधीजी को नित्य कुछ-न-कुछ गालियां सुना जाया करता था। एक रोज उसने गांधीजी पर कुछ व्यंग्यपूर्ण कविता लिखी और गांधीजी के पास उसके पन्ने लेकर आया। गांधीजी को उसने पन्ने दिये, तो उन्होंने चुपचाप पन्नों को फाड़कर रद्दी की टोकरी में डाल दिया और उन पन्नों में लगी हुई पिन को सावधानी से निकालकर अपनी डिबिया में रख लिया। उसने कहा, "गांधी, पढ़ो तो सही, इसमें कुछ तो सार है।" "हां, जो सार था वह तो मैंने डिबिया में रख लिया है।" इसपर सब हंसे और वह अंग्रेज खिसियाना पड़ गया।

मैंने देखा है कि छोटी-सी काम की चीज को भी गांधीजी कभी नहीं गंवाते। एक-एक, दो-दो गज के सुतली के टुकड़ों को सुरक्षित रखते हैं, जो महीनों बाद काम पड़ने पर सावधानी से निकाल लेते हैं। उनके चरखे के नीचे रखने का काले कपड़े का एक छोटा-सा टुकड़ा आज कोई बारह साल से देखता हूं चला आ रहा है। लोगों की चिट्ठियों में से साफ कागज निकालकर उसके लिफाफे बनवाकर उन्हें काम में लाते हैं। यह

दृश्य एक हद दर्जे के मक्खीचूस से भी बाजी मारता है।

लन्दन की बात है। गांधीजी का नियत स्थान था शहर से दूर पूर्वी हिस्से में। दफ्तर था पश्चिमी हिस्से में, जो नियत स्थान से सात-आठ मील की दूरी पर था। दिन का भोजन दफ्तर में ही—जो एक मित्र के मकान में था—होता था। नियत स्थान से भोजन का सामान रोजमर्रा दफ्तर में ले आया जाता था।

भोजन के साथ-साथ कभी-कभी गांधीजी शहद भी लेते हैं। हम लोग इंग्लैंड जाते समय जब मिश्र से गुजरे, तो वहांके मिश्री लोगों ने शहद का एक मटका भरकर गांधीजी के साथ देदिया था। उसीमें से कुछ शहद रोजमर्रा भोजन के लिए बरत लिया जाता था। उस रोज भूल से मीराबेन घर से शहद लाना भूल गईं और जब समय पर खयाल आया कि शहद नहीं है तो चार आने की एक बोतल मंगाकर भोजन के साथ रखदी। गांधीजी भोजन करने बैठे तो नजर शीशी पर गई। पूछा—यह शीशी कैसे? उत्तर में बताया गया कि क्यों शहद खरीदना पड़ा। "यह पैसे की बर्बादी क्यों? क्या लोगों के दिये हुए पैसे का हम इस तरह दुरुपयोग करते हैं? एक दिन शहद के बिना क्या मैं भूखा मर जाता?"

भारतवर्ष के बड़े-बड़े पेचीदा मसले सामने पड़े थे। उनको किनारे रखकर शहद पर काफी देर तक व्याख्यान और डांट-डपट होती रही, जो पास बैठे हुए लोगों को अखरी भी। पर गांधीजी के लिए छोटे मसले उतने ही पेचीदा हैं जितने कि बड़े मसले। इसमें कभी-कभी लोगों को लघु-गुरु के विवेक का अभाव प्रतीत होता है। पास में रहनेवालों को झुंझलाहट होती है, पर गांधीजी पर इसका कोई असर नहीं होता।

कपड़ों का खूब एहतियात रखते हैं। जरा फटा कि उसपर कारी लगती है। हर चीज को काफी स्वच्छ रखते हैं, पर कंजूसी यहांतक चलती है कि पानी की भी फिजूलखर्ची नहीं करते। हाथ-मुंह धोने के लिए बहुत ही थोड़ा-सा पानी लेते हैं। पीने के लिए उबला हुआ पानी एक शीशी में रखते हैं, जो जरूरत पड़ने पर पीने और हाथ-मुंह धोने के काम आता है।

वर्षों पहले एक मर्तबा यह भी देखा था कि रोटी का परित्याग करके करीब एक सौ खजूर खाते थे। इसी तरह एक जमाने में रोटी ज्यादा खाते थे, फल कम खाते थे। इसी तरह के प्रयोग और रद्दोबदल भोजन में चलते ही रहते हैं। कुछ ही वर्षों पहले नीम की कच्ची पत्तियां और इमली का बड़े जोरों से प्रयोग जारी था, पर बाद में उसे छोड़ दिया। कच्चे अन्न का प्रयोग भी बीमार होकर छोड़ा।

ये सब प्रयोग हर मनुष्य के लिए अवांछनीय हैं। आजकल गांधीजी का भोजन खूब खरखरी सिकी पतली रूखी रोटी, उबला हुआ साग, गुड़, लहसुन और फल है। हर चीज में थोड़ा-सा सोडा डाल लेते हैं। उनकी राय है कि सोडा स्वास्थ्य के लिए अच्छी चीज है। एक दिन में पांच से अधिक चीजें गांधीजी नहीं खाते। इस गणना में नमक भी शुमार में आजाता है।

गांधीजी अपनी जवानी में पचास-पचास मील भी रोजाना चल चुके हैं, पर बुढ़ापे में भी इन्होंने टहलने का व्यायाम कभी नहीं छोड़ा। कभी-कभी कहते हैं कि खाना एक रोज न मिले तो न सही, नींद भी कम मिले तो चिंता नहीं, पर टहलना न मिले तो बीमारी आई समझो। पेट पर रोजमर्रा एक घंटे तक मिट्टी की पट्टी बांधे रखते हैं, इसका भी काफी माहात्म्य बताते हैं।

नींद का यह हाल है कि जब चाहें तब सो सकते हैं। गांधी-अरविन समझौते के समय की मुझे याद है कि मेरे यहां कुछ अंग्रेजों ने गांधीजी से मिलना निश्चय किया था। निर्धारित समय से पंद्रह मिनट पहले गांधीजी आये। कहने लगे, "मुझे आज नींद की जरूरत है, कुछ सोलूं।" मैंने कहा, "सोने का समय कहां है? पंद्रह मिनट ही तो हैं।" उन्होंने कहा, "पंद्रह मिनट तो काफी हैं।" चट खटिया पर लेट गये और एक मिनट के भीतर ही गाढ़ निद्रा में सोगये। सबसे आश्चर्य की बात यह थी कि पंद्रह मिनट के बाद अपनेआप ही उठ गये। मैंने एक बार कहा, "आपमें सोने की शक्ति अद्भुत है।" गांधीजी ने कहा, "जिस रोज

मेरा नींद पर से काबू गया तो समझो कि मेरा शरीरपात होगा।"

गांधीजी को बीमारों की सेवा का बड़ा शौक है। यह शौक बचपन से ही है। अफ्रीका में सेवा के लिए उन्होंने न केवल नर्स का काम किया, बल्कि एक छोटा-मोटा अस्पताल भी चलाया, यद्यपि अपनी 'हिन्द-स्वराज्य' नामक पोथी में एक दृष्टि से उन्होंने अस्पतालों की निंदा भी की है। बीमारों की सेवा का वह शौक आज भी उनमें ज्यों-का-त्यों मौजूद है। वह केवल सेवा तक ही रस लेते है, ऐसा नहीं है। चिकित्सा में भी रस लेते हैं और सीधी-सादी चीजों के प्रयोग से क्या लाभ होसकता है, इसकी खोज बराबर जारी ही रहती है।

कोई अत्यंत बीमार पड़ा हो और मृत्यु-शय्या पर हो, और गांधीजी से मिलना चाहता हो, तो असुविधा और कष्ट बर्दाश्त करके भी रोगी से मिलने जाते हैं। मैंने कई मर्तबा उन्हें ऐसा करते देखा है, और एक-दो घटनाएं तो ऐसी भी देखी हैं कि उनके जाने से रोगियों को बेहद राहत मिली।

बहुत वर्षों की पुरानी बात है। दिल्ली की घटना है। एक मरणासन्न रोगिणी थी। रोग से संग्राम करते-करते बेचारी के शरीर का ह्रास हो चुका था। केवल सांस बाकी था। उसने जीवन से बिदाई लेली थी। और लम्बी यात्रा करना है ऐसा मानकर राम-राम करते अपने अंतिम दिन काट रही थी। पर गांधीजी से अपना अंतिम आशीर्वाद लेना बाकी था। रोगिणी ने कहा, "क्या गांधीजी के दर्शन भी हो-सकते हैं? जाते-जाते अंत में उनसे तो मिल लूं।" गांधीजी तो दिल्ली के पास भी नहीं थे, इसलिए उनका दर्शन असम्भव था। पर मरते प्राणी की आशा पर पानी फेरना मैंने उचित नहीं समझा, इसलिए मैंने कहा, "देखेंगे, तुम्हारी इच्छा ईश्वर शायद पूरी कर देगा।"

दो ही दिन बाद मुझे सूचना मिली कि गांधीजी कानपुर से दिल्ली होते हुए अहमदाबाद जारहे हैं। उनकी गाड़ी दिल्ली पहुंचती थी सुबह चार बजे। अहमदाबाद की गाड़ी पाँच बजे छूट जाती थी। केवल घंटेभर की फुरसत थी। और रुग्णा बेचारी दिल्ली से दस मील के

फासले पर थी। घंटेभर में रोगी से मिलना और वापस स्टेशन आना, यह दुशवार था।

जाड़े का मौसम था। हवा तेजी से चल रही थी। मोटरगाड़ी में—उन दिनों खुली गाड़ियां हुआ करती थीं—गांधीजी को सवेरे-सवेरे बीस मील सफर कराना भी भयानक था। गांधीजी आरहे हैं, इसका बेचारी रोगिणी को तो पता भी न था। उसकी तीव्र इच्छा गांधीजी के दर्शन करने की थी। पर इसमें कठिनाई प्रत्यक्ष थी। गांधीजी गाड़ी से उतरे। मैंने दबी जबान में कहा—"आप आज ठहर नहीं सकते?" गांधीजी ने कहा, "ठहरना मुश्किल है।" मैं हताश होगया। रोगी को कितनी निराशा होगी, यह मैं जानता था।

गांधीजी ने उथलकर पूछा—"ठहरने की क्यों पूछते हो?" मैंने उन्हें कारण बताया। गांधीजी ने कहा—"चलो, अभी चलो।" "पर मैं आपको इस जाड़े में ऐसी तेज हवा में सुबह के वक्त मोटर में बैठाकर कैसे लेजा सकता हूं?" "इसकी चिंता छोड़ो। मुझे मोटर में बिठाओ। समय खोने से क्या लाभ? चलो, चलो।" गांधीजी को मोटर में बैठाया। जाड़ा और ऊपर से पैनी हवा। ये बेरहमी से अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर रहे थे। सूर्योदय तो अभी हुआ भी न था। ब्राह्म मुहूर्त की शांति सर्वत्र विराजमान थी। रुग्णा शय्या पर पड़ी 'राम-राम' जप रही थी। गांधीजी उसकी चारपाई के पास पहुंचे। मैंने कहा—"गांधीजी आये हैं।" उसे विश्वास न हुआ। हक्की-बक्की-सी रह गई। सकपकाकर उठ बैठने की कोशिश की; पर शक्ति कहां थी? उसकी आंखों से दो बूंद चुपचाप गिर गईं। मैंने सोचा, मैंने अपना कर्तव्य पालन कर दिया।

रोगिणी की आत्मा को क्या सुख मिला, यह उसकी आंखें बता रही थीं।

गांधीजी की गाड़ी तो छूट चुकी थी, इसलिए मोटर से सफर करके आगे के स्टेशन पर गाड़ी पकड़ी। गांधीजी को कष्ट तो हुआ, पर रोगी को जो शांति मिली उस संतोष में गांधीजी को कष्ट का कोई

ानुभव नहीं था।

थोड़े दिनों बाद रोगिणी ने संसार से विदा ली, पर मरने से पहले ासे गांधीजी के दर्शन होगये, इससे उसे बेहद शांति थी।

हम भूखे को अन्न देते हैं, प्यासे को पानी देते हैं, उसका माहात्म्य ै। रन्तिदेव और उसके बाल-बच्चों ने स्वयं भूखे रहकर किस तरह ूखे को रोटी दी, इसका माहात्म्य हमारे पुराण गाते हैं। पर एक मरणा-ासन्न प्राणी है, अंतिम घड़ियां गिन रहा है, चाहता है कि एक पूज्य व्यक्ति के ार्शन कर लूं। इस दर्शन से भूखे रोगी की भूख तृप्त होती है, उसे संतोष-ान मिलता है, इस दान का माहात्म्य कितना होगा?

२०

गांधीजी इकहत्तर के होचले !

पच्चीस साल पहले जब मुझे उनका प्रथम दर्शन हुआ तब वह प्रौढ़ावस्था में थे, आज वृद्ध होगये। उस समय की सूरत-वेशभूषा का आज की सूरत-वेशभूषा से मिलान किया जाय तो बड़ा भारी अंतर है। हम जब एक वस्तु को रोज-रोज देखते रहते हैं तो जो दैनिक परिवर्तन होता है उसको हमारी आंखें पकड़ नहीं सकतीं। परिवर्तन चोर की तरह आता है। इसलिए, गांधीजी के शरीर में, उनकी बोलचाल में, उनकी वेशभूषा में कब और कैसे परिवर्तन हुआ यह आज किसीको स्मरण भी नहीं है। मैंने जब गांधीजी को पहलेपहल देखा, तब वह अंगरखा पहनते थे। फिर कुर्ता पहनने लगे और साफे की जगह टोपी ने लेली। एक सभा में व्याख्यान देते-देते कुर्ता भी फेंक दिया, तबसे घुटनों तक की धोती और ओढ़ने की चादरमात्र रह गई।

पहले चोटी बिलकुल नहीं रखते थे। हरिद्वार के कुंभ पर एक साधु ने कहा, "गांधी, न यज्ञोपवीत, न चोटी; हिंदू का कुछ तो चिह्न रक्खो।" तबसे गांधीजी ने शिखा धारण कर ली। और वह एक खासी गुच्छेदार शिखा थी। एक रोज अचानक सिर की तरफ मेरी नजर पड़ी तो, देखता हूं, शिखा नहीं है। शिखा के स्थान के सब बाल धीरे-धीरे उड़ चले और जो शिखा धारण की गई थी वह अपनेआप ही बिदा होगई। शिखा के अभाव ने मुझे याद दिलाया कि जिन पांच तत्त्वों से एक-एक चीज पैदा हुई थी उन्हींमें धीरे-धीरे वे अब विलीन होरही हैं। दांत सारे चले गये, पर कब-कब गये, कैसे-कैसे चुपके-से चलते गये, इसका पास रहनेवालों को भी कभी ध्यान नहीं है।

लोगों को अपने जीवन में यश-अपयश दोनों मिले हैं। कभी

लोकप्रियता आई, कभी चली गई। ड्यूक ऑफ वेलिंग्टन, नेपोलियन, डिजरायली इत्यादि राजनैतिक नेताओं ने अपने जीवन में उतार-चढ़ाव सब कुछ देखा। पर गांधीजी ने चढ़ाव-ही-चढ़ाव देखा, उतार कभी देखा ही नहीं। अपने जीवन में बड़े-बड़े काम किये। हर क्षेत्र में कुछ-न कुछ दान किया। साहित्यिक क्षेत्र भी इस दान से न बचा। कितने नये शब्द रचे, कितने नये प्रयोग चलाये, लेखनशैली पर क्या असर डाला, इसका तलपट भी कभी लगेगा।

किसीने मिसेज वेसेंट से पूछा था कि हिंदुस्तान में हमारी सबसे बड़ी बुराई कौन-सी है? मिसेज वेसेंट ने कहा, "हिन्दुस्तान में लोग दूसरे को गिराकर चढ़ने की कोशिश करते हैं, यह सबसे बड़ी बुराई है।" चाहे यह सबसे बड़ी बुराई हो या न हो, पर इस तरह की बुराई राजनैतिक क्षेत्र में अक्सर यहां पाई जाती है। पर गांधीजी ने जमीन से खोद-खोदकर हीरा निकाला। उन्होंने राख छान-छानकर सोना जमा किया। सरदार वल्लभभाई को बनाने का श्रेय गांधीजी को है। राजगोपालाचार्यजी को, राजेंद्रबाबू को गढ़ा गांधीजी ने। सैकड़ों दिग्गज और लाखों सैनिक गांधीजी ने पैदा किये। करोड़ों मुर्दा देशवासियों में एक नई जान फूंक दी। छोटे-छोटे आदमियों को काट-छांटकर सुघड़ बना दिया। 'चिड़ियों से मैं बाज लड़ाऊं, तब गोविन्दसिंह नाम रखाऊं।'

जिन गांधीजी की ऐसी देन रही, वह अब बुड्ढे होते जारहे हैं। कब बुड्ढे होगये, इसका हमें ध्यान नहीं रहा।

"दिन-दिन, घड़ी-घड़ी, पल-पल, छिन-छिन स्रवत जात जैसे अंजुरी को पानी" ऐसे आयु बीतती जारही है। पर गांधीजी लिखते हैं, बोलते हैं, हमारा संचालन करते हैं, इसलिए उनके शारीरिक शैथिल्य का हमें कोई ज्ञान भी नहीं है। हमने मान लिया है कि गांधीजी का और हमारा सदा का साथ है। ईश्वर करे, वह चिरायु हों!

यदि कोई अपनी जवानी देकर गांधीजी को जिंदा रख सके तो हजारों युवक अपना जीवन देने के लिए उद्यत होजायं। पर यह तो

अनहोनी कल्पना है।

अंत में फिर प्रश्न आता है; गांधीजी का जीवनचरित्र क्या है ?

राम की जीवनी को किसी कवि ने एक ही श्लोक में जनता के सामने रख दिया है:

आदौ रामतपोवनाधिगमनं, हत्वा मृगं काञ्चनं ।
वैदेहीहरणं जटायुमरणं सुग्रीवसंभाषणम् ।
बालीनिग्रहणं समुद्रतरणं लंकापुरीदाहनं ।
पश्चाद्रावणकुंभकर्णहननम् एतद्धि रामायणम् ।।

गांधीजी की जीवनी भी शायद एक ही श्लोक में लिखी जा सके; क्योंकि एक ही चीज आदि से अंत तक मिलती है—अहिंसा, अहिंसा। खादी कहो या हरिजन-कार्य, ये अहिंसा के प्रतीक हैं। पर एक बात है। राम के जीवन को अंकित करनेवाला श्लोक अंत में बताता है, 'पश्चाद्रावण-कुम्भकर्णहननम्।' क्या हम गांधीजी के बारे में

'आदौ मोहन इंग्लैंडगमनं विद्याविशेषार्जनम्
अफ्रीकागमनं कुनीतिदमनं सत्याग्रहान्दोलनम्
धृत्वा भारतमुक्तये प्रयतनं शस्त्रं त्वहिंसामयम्
अस्पृश्योद्धरणं स्वतन्त्रकरणं...............

इत्यादि-इत्यादि कहकर अंत में कह सकते हैं 'पारतंत्र्यविनाशनम् ?'

कौन कह सकता है ? गांधीजी अभी जिन्दा हैं।

थोड़े ही दिन पहले चीन-निवासी एक विशिष्ट सज्जन ने उनसे प्रश्न किया, "क्या आप अपने जीवन में भारत को स्वतंत्र देखने की आशा करते हैं ?" "हां, करता तो हूं। यदि ईश्वर को मुझसे और भी काम लेना है तो जरूर मेरे जीवन-काल में भारत स्वतंत्र होगा। पर यदि ईश्वर ने मुझे पहले ही उठा लिया, तो इससे भी मुझे कोई सदमा नहीं पहुंचेगा।"

पर कौन कह सकता है कि भविष्य में क्या होगा ?

"को जाने कल की ?"

—समाप्त—